जैन भारती

जून, 2011 • वर्ष 59 • अंक 6 • वार्षिक रु. 200.00

With best compliments from :

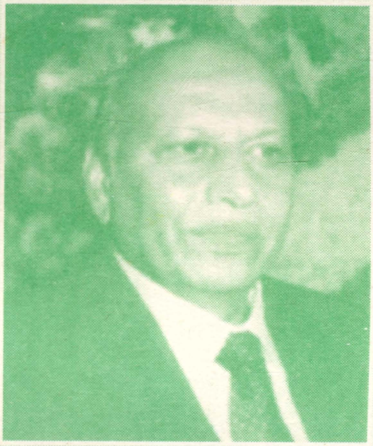

स्व. झुमरमलजी बच्छावत

Deeplok Securities Ltd.

Rajendra Bachhawat
Surendra Bachhawat
Mahendra Bachhawat

"Ideal Plaza"
11/1, Sarat Bose Road, 2nd Floor, South Block
Room No. 207, **Kolkata** 700020
Tel : 2283 7495, 2283 7496

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 59 • जून, 2011 • अंक 6

विमर्श

11
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
जो परे की वृत्ति है; वही हृदय-परिवर्तन है

16
साध्वी पुण्ययशा
अध्यात्म, स्तवन और भारतीय वाङ्मय

23
समणी डॉ. सत्यप्रज्ञा
पर्यावरण संकट : इच्छाओं की अनंतता, आवेग, आवेश

•
आवरण
गौरीशंकर

अनुभूति

29
आचार्यश्री महाश्रमण
ज्ञान की आराधना : हृदय-परिवर्तन का सबल आधार

32
मुनि धनंजयकुमार
स्वस्थ समाज की आधारभूमि इच्छा का अल्पीकरण; कामना का संयम

38
साध्वी शुभप्रभा
आचार्यश्री तुलसी सामाजिक अन्वेषण के अग्रणी पुरुष

43
कहानी
अशोक सेकसरिया
बुद्धू

46
कविता
श्रीकांत वर्मा की कविताएं

प्रसंग

7
शुभू पटवा
परिवेश, प्रकृति और पर्यावरण

शीलन

49
साध्वी शुभ्रयशा
विधि-निषेध के सम्यक् प्रशिक्षक श्रुत संपदा के दुर्लभ नियोजक

52
समणी डॉ. हिमप्रज्ञा
लालसाओं का सीमांकन करें पर्यावरण संरक्षण के लिए

54
बालकथा
चित्रा मुद्गल
समझदार मैना और दुष्ट जमींदार पुत्र

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 0151-2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

कोबा (गांधीनगर)
पि. ३८२ ००९

सब घरों में गोचरी क्यों नहीं जाते?

संवत 1856 नाथद्वारा की घटना है। हेमजी स्वामी ने स्वामीजी से कहा—अपने श्रावकों के घर गोचरी के लिए जाते हैं। अनुक्रम से जो घर आते हैं, वहां गोचरी के लिए नहीं जाते (सामुदायिक गोचरी नहीं करते), इसका क्या कारण है?

तब स्वामीजी बोले—'यहां लोगों में द्वेष भावना बहुत है। इसलिए क्रम वार गोचरी नहीं करते।'

तब हेमजी स्वामी बोले—'आप आज्ञा दें तो मैं जाऊं।'

तब स्वामीजी बोले—'भले ही जाओ।'

तब हेमजी स्वामी मोहनगढ़ में गोचरी करते-करते किसी एक घर में गोचरी के लिए गए और पूछा—'क्या आहार-पानी बना हुआ है?'

तब बहिन बोली—'रोटी नमक पर पड़ी है।'

तब हेमजी स्वामी दूसरे माले पर गोचरी के लिए गए। उस घर की बहिन अंटसंट बोली, बहुत झगड़ा किया। आखिर रोटी दे दी। इसमें काफी समय लग गया। तब नीचे के घर वाली बहिन ने सोचा—ये साधु हमारे ही संप्रदाय के लगते हैं। हेमजी स्वामी वापस नीचे आए, तब वह बहिन बोली—'आप पधारें और आहार का दान लें।' यह कह कर उसने दान देने के लिए रोटी हाथ में ली।

तब हेमजी स्वामी ने कहा—'बहिन! तू कहती थी, रोटी नमक पर पड़ी है।'

तब वह बोली—'मैंने आपको तेरापंथी साधु जाना था, इसलिए वह बात कही।'

तब हेमजी बोले—'हम हैं तो तेरापंथी ही। तुम्हारा मन हो तो दो।'

तब वह बड़ी मुश्किल से बिना मन बोली—'लो।'

इसके बाद हेमजी स्वामी अगले घर में गए। आहार-पानी के बारे में पूछा। तब वह बोली—'मुझे तो तेरापंथी को रोटी देने का त्याग है।'

तब हेमजी स्वामी बोले—'रोटी देने का त्याग है। तो पानी हो तो पानी का दान दे दो।'

तब उसने उठ कर पानी का दान दिया।

हेमजी स्वामी ने स्थान पर आकर सारे समाचार स्वामीजी को सुनाए। स्वामीजी सुन कर बहुत प्रसन्न हुए। •

कुछ लोग धर्म या अध्यात्म की भाषा को नहीं समझते। वे इसे लौकिक दृष्टि से ही देखते हैं और उसी रूप में आचरण करते हैं। यह सही है कि समाज में रहने वाले सामाजिक मूल्यों की उपेक्षा नहीं कर सकते, पर यश, प्रतिष्ठा या नाम की भूख से ऊपर उठ कर समाजसेवा करने वाले कम ही होते हैं। लौकिक कार्यों में भी अनासक्त रहने वाले व्यक्ति ही आदर्श स्थापित कर सकते हैं। सामाजिक कार्यों में अनासक्त रहना सरल नहीं है। इस संदर्भ में एक उदाहरण है—पंडित माघ। एक बार पंडित माघ के पास कोई आया। उसे आर्थिक सहयोग की अपेक्षा थी। पंडित माघ के सामने मांग रखी गई। पंडित माघ स्वयं भी बहुत साधारण स्थिति में थे। फिर भी वे काफी संवेदनशील हो उठे। उन्होंने इधर-उधर देखा, पर घर में कहीं कुछ मिला नहीं। उनकी पत्नी एक ओर सो रही थी। उसके हाथों में सोने के दो कंगन थे। उन्होंने धीमे-से एक हाथ से कंगन निकाला। नींद में अचानक स्पर्श होने से उनकी पत्नी चिल्लाई—चोर, चोर, चोर। पंडितजी ने उसको चुप करते हुए कहा—'शांत रहो, घर का ही चोर है।' पत्नी ने हाथ से कंगन निकालने का कारण पूछा। पंडितजी ने स्थिति बता दी। पत्नी बोली—'पतिदेव! एक कंगन से उनका काम कैसे चलेगा? बेटी का विवाह जो है!' उसने दूसरे हाथ से भी कंगन निकाला और दे दिया। प्रश्न हो सकता है कि पंडित माघ द्वारा प्रदत्त यह दान धार्मिक था या आध्यात्मिक? उनको सामाजिक दायित्व की प्रेरणा हुई और दान दे दिया। ऐसे ही लौकिक दान से सहजता, निर्गर्विता और अनासक्ति का मूल्यांकन हो सकता है।

—आचार्यश्री तुलसी

एक व्यक्ति को डर बहुत लगता था। तांत्रिक ने उसे एक ताबीज बना कर दिया। एक सप्ताह पश्चात् तांत्रिक ने पूछा—क्या भय मिट गया? उस व्यक्ति ने कहा—एक भय तो मिट गया, किंतु दूसरा भय पैदा हो गया कि कहीं यह ताबीज खो न जाए? ताबीज के खोने का भय सदा बना रहता है। हम भय के द्वारा भय से मुक्त होना चाहें, यह संभव नहीं है। अभय होने का एक ही उपाय है और वह है—पुद्गल के साथ अपने संबंधों को कम करना। जितना पुद्गल के साथ संबंध जुड़ेगा, उतना भय होगा। जितना आत्मा के साथ संबंध होगा, उतना भय घटेगा और आदमी अभय बनेगा। आत्मा भिन्न, शरीर भिन्न—इस चेतना को पुष्ट बनाएं। यह अवधारणा जितनी पुष्ट होगी, भय उतना ही कम होता चला जाएगा। शरीर को जब तक अपना मान कर रहेंगे, तब तक भय कम नहीं होगा। भय का मूलस्रोत है—शरीर के प्रति आसक्ति। कायोत्सर्ग, भेदविज्ञान अथवा ममत्व विसर्जन का प्रयोग शरीर से आत्मा को अलग करके देखने का प्रयोग है। यह अभय की चेतना के जागरण का प्रयोग है। अभय होने का एक प्रयोग है—चैतन्य केंद्र पर ध्यान। हमारे शरीर के कुछ केंद्र ऐसे हैं, जहां ध्यान करने से आसक्ति का चक्र टूटता है। एक केंद्र है—विशुद्धि केंद्र। यह 'थायराइड' का स्थान है। इस पर ध्यान करने से मोह-मूर्च्छा कम होती है। अतः यदि विशुद्धि केंद्र पर दीर्घकाल तक निरंतर ध्यान किया जाए तो पुद्गल की आसक्ति कम होगी। तब अभय होने में बहुत सुविधा हो जाएगी।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

भाषा के संदर्भ में आर्हत वाङ्मय में एक सुंदर शब्द मिलता है—**परिक्खभासी**—परीक्ष्यभाषी अर्थात् परीक्षापूर्वक बोलने वाला। भाषा व्यवहार जगत का एक सशक्त माध्यम है। दुनिया में अनेक प्राणी हैं, जिनके पास भाषा की शक्ति नहीं है, अभिव्यक्ति की भाषा नहीं है। मनुष्य के पास ही भाषा-शक्ति है, किंतु अनेक मनुष्य ऐसे भी होते हैं, जो अच्छी तरह बोल नहीं सकते। वे मूक बने रहते हैं। जिनको व्यवहार के धरातल में जीना है, उनके लिए बोलना आवश्यक हो जाता है। अतः जिनके पास भाषा की स्पष्ट शक्ति है, उनको विशेष रूप से विचार करना चाहिए कि हम अपनी भाषा-शक्ति का उपयोग कैसे करें, उसका कभी दुरुपयोग न करें।

आदमी अपने शरीर को अलंकृत करने के लिए आभूषण पहनता है। उसी तरह अपनी भाषा को अलंकृत बनाएं, परिष्कृत बनाएं। वाणी आभूषण कैसे बन सकती है? इसके लिए चार बातों पर ध्यान देना चाहिए—परिमितभाषिता, मधुरभाषिता, यथार्थभाषिता और परीक्ष्यभाषिता। पहला सूत्र है—परिमितभाषिता। आदमी कम बोलने का अभ्यास करे। जिस बात को दो वाक्यों में कहा जा सकता है, उसके लिए दस वाक्यों का प्रयोग क्यों किया जाए? संस्कृत साहित्य में सुंदर कहा गया—**मितं च सारं च वचो हि वाग्मिता**—वाक्पटु वह होता है, जो परिमित और सारपूर्ण बोलता है। अपेक्षा और उपयोगिता को समझ कर बोलना चाहिए। आवश्यकता हो तो पांच घंटे भी बोला जा सकता है और अपेक्षा न हो तो पांच मिनिट भी नहीं बोलना चाहिए। कब, कहां, कितना बोलना—इसमें आदमी का विवेक काम करता है। आदमी रात्रि-शयन से पूर्व यह चिंतन करे कि प्रातः उठने से लेकर रात्रि में सोने तक मैं आवश्यक और उपयोगी कितना बोला? अनावश्यक और अनुपयोगी कितना बोला? ज्यादा बोलने से आदमी का पुण्य कुछ अल्प हो सकता है। पुण्यवत्ताक्षरण के कई कारण होते हैं। उनमें एक कारण है—ज्यादा बोलना। सौभाग्यवश वाणी की जो शक्ति मिली है, उसे व्यर्थ नहीं गंवाना चाहिए। अनावश्यक व अनुपयोगी बोल कर भाषा की महत्ता को कम नहीं करना चाहिए।

—**आचार्यश्री महाश्रमण**

प्रसंग

परिवेश, प्रकृति और पर्यावरण

इसे कक्षा-कक्ष जैसा रवैया न मानें, कृपया! एक अध्यापक (दुर्भाग्य से) जिस तरह 'रूढ़' तरीके से पढ़ाता है, अपनी बात कहते हुए—ऐसी मंशा भी इस लेखक की नहीं है। पर, हां! एक बात अवश्य रह-रह कर मन में आती है कि कुछ याद दिलाऊं, आपकी स्मृति को ताजा करूं और प्रभा-मंडल पर छा गई 'गर्द' को थोड़ा झाड़ दूं। तो, बस इसी इरादे से इतनी-सी बात कहना चाहता हूं कि 'परिवेश' का एक शाब्दिक अर्थ यह भी होता है—'कोई ऐसी वस्तु, जो चारों ओर से घेर कर हमारी रक्षा करती हो।' 'परिवेश' के इस अर्थ से हमारी नजर उठती है तो सीधा ध्यान 'प्रकृति और पर्यावरण' की ओर ही जाता है, कि यही एक वस्तु है जो—'चारों ओर से घेर कर हमारी रक्षा करता है।'

तब हम आज जिस 'परिवेश' में रहते हैं, उसकी दशा पर थोड़ा गौर करें। हम पाते हैं कि हमारा यही 'परिवेश' आज तार-तार हो रहा है। सन् 1972 के स्टॉकहोम सम्मेलन से लेकर सन् 2009 के दिसंबर में कोपनहेगन में हुए सम्मेलन के नतीजे साफ-साफ बता रहे हैं कि हम अजीब 'लाचारी' में बुरी तरह फंस चुके हैं। सन् 1972 की 'द ग्लोबल एनवायर्नमेंट आउटलुक' नामक रिपोर्ट में जो कुछ कहा गया—हम उन बातों को याद करें। हम कितने सचेत हुए, अपने तईं—थोड़ा विचार करें। सन् 2009 के कोपनहेगन सम्मेलन तक आते-आते तो हम उस 'वस्तु' की, जो हमारी रक्षा करती है—उसी का सौदा तक करने लग गए। मेरा इशारा जलवायु परिवर्तन के कारण बढ़ते तापमान की ओर है।

जलवायु परिवर्तन से पैदा होने वाली समस्याओं से निजात पाने के लिए किन्हीं उपायों पर ठोस निर्णय की जगह 'कार्बन उत्सर्जन' के लिए दुनिया के धनी देश सौदा करने पर उतारू होने लगे हैं। 'कोपनहेगन सम्मेलन' पर थोड़ी नजर इसी 'प्रसंग' में जनवरी 2010 के **जैन भारती** के अंक में हमने डाली थी। वहां गए हमारे ही साथी श्री ओम थानवी ने कई लेख तब लिखे थे। श्री थानवी ने जलवायु संकट पर वहां हुए विश्व शिखर सम्मेलन की गर्मा-गर्म बहसों और सम्मेलन के हालातों को आधार बना कई 'रिपोर्ट्स' लिखीं, जिनसे यह समझ आ सकता है कि कोई 'असरदार' निर्णय उस विश्व शिखर सम्मेलन में नहीं हो सका।

कारण? यह सवाल वहां भी कई रूपों में सामने आया। आज भी अनेक रूपों में कई सवाल खड़े हैं। गांधी के जरिए वहां तो उत्तर भी दिया गया। एक बड़ा पोस्टर वहां लगा था, जो सबका ध्यान अपनी ओर खींच रहा था। लिखा था—'दुनिया को बदलना है तो अपने को बदलो—महात्मा गांधी', पर दुर्भाग्य कि कोई अपने को बदलने को तैयार नहीं था। आज भी अनेक रूपों में उभरने वाले सवालों का एक ही उत्तर है—'पश्चिम की भोगवादी संस्कृति को तिलांजलि दी जाए।'

पर, आज हम इसे 'पश्चिम की भोगवादी संस्कृति कैसे कह रहे हैं?' क्या अब यह मात्र पश्चिम भर की ही है? संपूर्ण विश्व की नहीं? हम वैश्विक भाई-चारे में कहीं ओर कितने सफल हुए या नहीं हो पाए हैं—कोई मुकम्मल आकलन ही यह बता सकता है। पर, 'भोगवादी संस्कृति' के जाल में तो पूरा विश्व आकंठ फंसा ही हुआ है। इस स्तर पर तो हमारा 'विश्व भाईचारा' इतरा ही सकता है कि—हम एक हैं, एकरूप हैं। इस भोगवादी संस्कृति ने अपने 'फण' इस कदर फैला दिए हैं कि 'औकात से बाहर' का भी कोई व्यक्ति (देश भी) उपभोग (नाहक और बेजा उपभोग) को अपनी प्राथमिकता से बाहर नहीं कर पा रहा। वह भी उस ओर ललचा रहा है और चाहता यही है कि अपनी लालसाओं को हर कीमत पर वह भी पूरा करे। उन पर नियंत्रण की संभावना तो धीरे-धीरे क्षीण ही होती जा रही है।

भले श्रमण भगवान महावीर ने यह कहते हुए—'इच्छा हु आगाससमा अणंतिया'—अपने अनुयाइयों को सचेत किया हो, पर वे सचेत हुए क्या? जिनके पास कुछ करने को नहीं है—उनको छोड़ें, पर जो समर्थवान हैं—क्या उन्होंने भी इसे माना? नहीं! धनी और समर्थ देशों ने भी नहीं माना। जलवायु संकट को कम करने के लिए उन्होंने कुछ नहीं किया। अलबत्ता वे इसी 'तजवीज' में रहे कि अविकसित या विकासशील देश इस संकट को नहीं बढ़ाएं। जिन गैसों से संकट के स्तर तक तापमान में बढ़ोतरी होती है—कार्बनडाइऑक्साइड, मीथेन, नाइट्रसऑक्साइड तथा क्लोरोफ्लोरो-कार्बन उन्हें वातावरण में न छोड़ी जाए। इन्हीं से तापमान बढ़ता है। ग्लेशियर पिघलते हैं और समुद्र का जल स्तर बढ़ने लगता है। कुल मिलाकर पर्यावरण असंतुलन बनता है और जो हमारा परिवेश यानी 'रक्षा घेरा' है—वह नष्ट होता है। प्रकृति और पर्यावरण के लिए यह गंभीर खतरा है।

एक ओर दुनिया भर के देशों के लिए कोई एक सीमा तय कर दी गई कि वे उससे अधिक उत्सर्जन न करें, जबकि दूसरी ओर संपन्न और समर्थ देश इस टोह में रहे कि 'सीमा से कम' उत्सर्जन करने वाले देश उनके साथ मिल जाएं। वे जितना कम उत्सर्जन करें, उतने हिस्से की उत्सर्जन की छूट वे ले लें, खरीद लें। खरीद और बेचान का यह धंधा बाजार का धंधा है। समर्थ देशों ने 'उपभोक्ता वस्तु' की तरह जलवायु संकट जैसे सवाल को भी बाजार का धंधा बना दिया। यही दुर्भाग्यपूर्ण है।

यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति मात्र एक बात से दूर हो सकती है—उपभोग पर नियंत्रण या संयम के साथ उपभोग। इच्छाएं आकाश के समान अनंत हैं—श्रमण महावीर के इस कथन को जब तक नहीं समझा जाएगा और जब तक संयमपूर्ण उपभोग की संस्कृति को अंगीकार नहीं किया जाएगा—किसी भी तरह के संकट से यह विश्व मुक्त नहीं हो सकेगा।

असंयम और लालसाओं के अनंत विस्तार के दुष्परिणामों पर आज गंभीरता से सोचा जाने लगा है। मात्र 'श्रमण संस्कृति' तक ही इसे सीमित नहीं रखते हुए, जन-जन के लिए यह बात आचरण का मुद्दा कैसे बने—इस दिशा में भी सोचा जाने लगा है। ऐसे सभी सोच-विचार वास्तविक रूप कैसे लें? इसके लिए बाजार की संस्कृति तथा विज्ञान व प्रौद्योगिकी के वर्तमान चलन पर चिंतन पहली जरूरत है। यदि हमारी प्रौद्योगिकी और बाजार लालसाओं को बढ़ाने में ही लगे रहे, तो 'मूल में मट्ठा' पड़ जाना स्वाभाविक लगता है। हम उपभोग को अंतहीन लालसाओं से निदेशित न बनने दें। यदि यह निश्चय कर लें—तो हम, हमारा परिवेश और हमारा पर्यावरण संरक्षित रह सकते हैं। हमें इस दिशा में विचार करना चाहिए।

—शुभू पटवा

[संयमः खलु जीवनम्—का उद्घोष करने वाले महनीय संत आचार्यश्री तुलसी की पुण्य तिथि (18 जून), अहिंसा और अपरिग्रह के अपूर्व भाष्यकार आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का पावन जन्मोत्सव (29 जून) इसी महीने में है और पांच जून—विश्व पर्यावरण दिवस—भी इसी महीने में है। ये तीन महती दिवस हमें जो संदेश दे रहे हैं, वह एक ही है—'विलासिता और भोगवादी प्रवृत्ति पर नियंत्रण'। हमारे कदम इस ओर बढ़ें—यही इन दिवसों की उपादेयता है। इसी में इनको नमन की सार्थकता है। नमन!! —सं.]

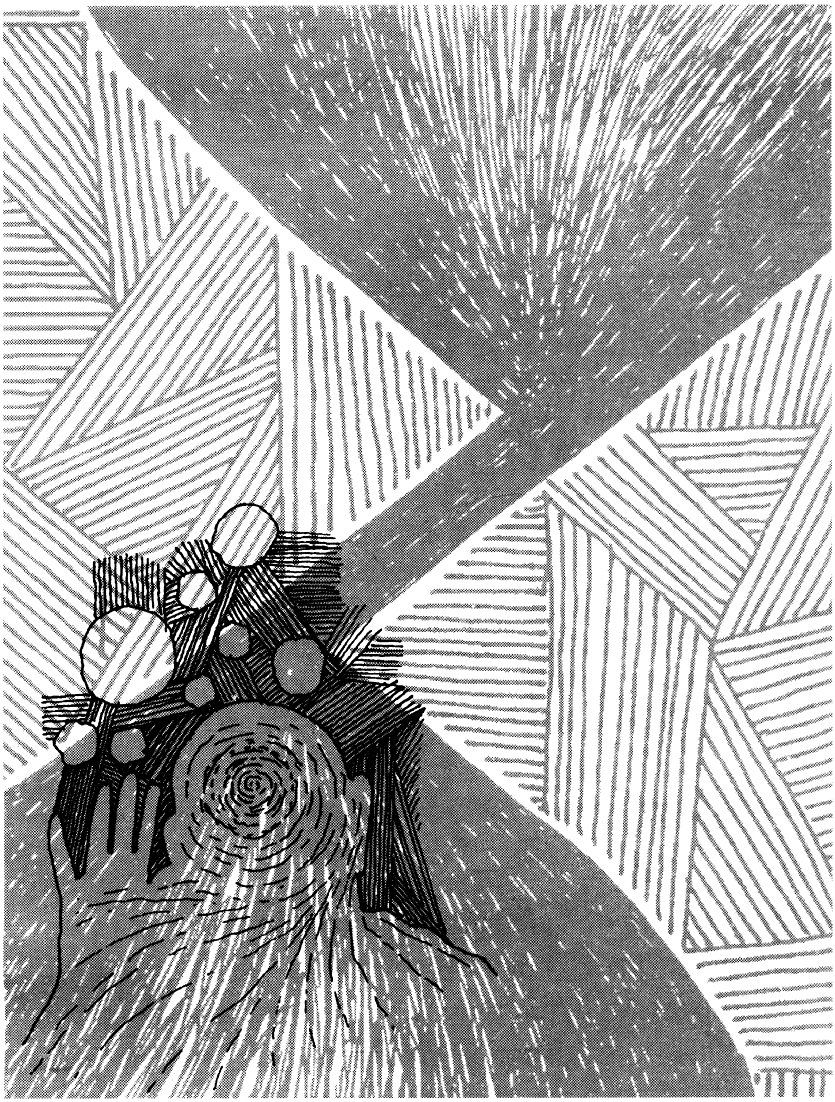

विमर्श

जब तक जीवन में दुराचार, अनीति और अधर्म का साम्राज्य फैला हुआ है, तब तक मनुष्य को सत्य, ज्ञान या परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। जिसका मन अतिशय चंचल है और जिसका अपनी इंद्रियों व स्वयं के मन पर काबू नहीं, उसे भी परमात्मा का दर्शन नहीं होता। जब तक ध्यान जैसी साधना या तप-व्रत में मनुष्य को रुचि नहीं होती, नियमित तथा एकनिष्ठ साधना से प्रीति नहीं होती, ध्येय व निष्ठा की समझ नहीं होती, तब तक आत्मा का अनुभव असंभव है।

—संत योगेश्वर

जो परे की वृत्ति है; वही हृदय-परिवर्तन है

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

चारों ओर ऐसा ही व्यामोह छा रहा है। जीवन के मूल्य स्वयं अनीति के पोषक बन रहे हैं। इस स्थिति में हृदय-परिवर्तन का प्रश्न बड़ा जटिल बन जाता है। इसे जटिल बनाने वाला एक दूसरा कारण और भी है। धनपतियों के शोषण ने निर्धनों के दिल में एक प्रतिशोध की भावना उत्पन्न कर दी है। वे केवल धनपतियों के ही विरोधी नहीं, अपितु उनकी मान्यताओं के भी विरोधी बन गए। धनपति अध्यात्म और संतोष की बातें करते हैं, तो उन्हें वे बातें ढकोसला लगती हैं। धर्म को भी वे शोषण का आलंबन मान बैठे हैं। उनके मानने के पीछे एक तथ्य भी है। शोषण के द्वारा जो धन-संग्रह करते हैं, उसके शुद्धि की भावना से उसका थोड़ा अंश खर्च कर वे धर्मवीर बन जाना चाहते हैं। धर्म-आराधना की यह सीधी क्रिया उन्हें शोषण से दूर होने का अवसर ही नहीं देती।

यह विज्ञान का युग है। श्रद्धा को अपेक्षित स्थान नहीं है। पुरुषार्थ की गाथाएं गाई जाती हैं, किंतु सिद्धांत-भर के रूप में, कार्य रूप में पहला स्थान परिस्थितियों को मिल रहा है। 'परिस्थितियां ही ऐसी हैं, हम क्या करें?'—यह उत्तर बिना किसी कठिनाई के सुना जा सकता है। अब यह आश्चर्य की बात नहीं रही है कि व्यक्ति जो अच्छे या बुरे कार्य करता है और उनके जो अच्छे या बुरे परिणाम होते हैं, अच्छे कार्यों और उनके परिणामों का दायित्व वह स्वयं लेना चाहता है, पर बुरे कार्यों और उनके परिणामों का दायित्व वह दूसरों पर डाल देता है। कोई और न मिले तो परिस्थितियां तो हैं ही!

यह सही है कि परिस्थितियां व्यक्ति को प्रभावित करती हैं, किंतु तभी जब उपादान शक्तिहीन होता है। समर्थ व्यक्ति परिस्थितियों का दास बन कर कभी नहीं चला। अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियां न्यूनाधिक मात्रा में सदा रही हैं, पर उनसे भय खाने वाले लड़खड़ा जाते हैं और उनसे लड़ने वाले विजयी बन जाते हैं।

आज का युग नाना वादों का केंद्र है। एक युग था, जब धार्मिक मतवाद चर्चा में थे। आज प्रत्येक समस्या को राजनीतिक स्तर पर सुलझाने का प्रयत्न किया जाता है। राजनीति की धुरी अर्थ-तंत्र है। इसलिए आज का युग राजनीतिवाद या अर्थवाद का अखाड़ा बन रहा है। विश्व-शांति की मांग भी आज अभूतपूर्व है।

व्यक्ति की अपनी दुर्बलताएं भी होती हैं। काम-वासना, क्रोध, लालच, आरामतलबी आदि-आदि। जो इन पर नियंत्रण पा जाता है, उसे परिस्थितियों का सामना भले करना पड़े, पर वे उसे दबा नहीं सकतीं। जो अपनी आंतरिक दुर्बलताओं पर नियंत्रण करना नहीं जानता या नहीं चाहता, परिस्थितियां उसे निगल जाती हैं।

मानव विविध जातीय संस्कारों का संग्रहालय है। भलाई और बुराई—दोनों के बीज उसमें अंकुरित होते हैं। परिस्थितियां निमित्त मात्र हैं। उनका सहयोग पा बीज अंकुरित हो जाता है। बीज न हो तो वे किसे अंकुरित करें? परिस्थितियों की अपेक्षा व्यक्ति अधिक बलवान होता है।

वह उनसे अप्रभावित रह सकता है। यह भी सच है, उनकी सर्वथा उपेक्षा नहीं की जा सकती।

परिस्थितिवाद निराशावाद है। इसकी परंपरा निरंतर चलती है। पुराने लोग कर्मवाद या भाग्यवाद की ओट में अपनी कमजोरियों को पालते थे। आज उनका लालन-पालन परिस्थितिवाद के सहारे हो रहा है। यह सच है कि कर्म या भाग्य का अपना-अपना स्थान है, किंतु व्यक्ति उनसे घबरा कर अपना पुरुषार्थ खो बैठे—यह अस्थानीय है। सार यही है कि सब बुराइयों की जड़ व्यक्ति की अपनी दुर्बलताएं हैं। परिस्थितियां उनको पोषण देती हैं, उन्हें मूर्त बनाती हैं। क्रोध व्यक्ति की दुर्बलता है, किंतु उसे उभारने वाली स्थिति बने बिना वह मूर्त नहीं बनता। गाली सुनते ही वह भभक उठता है। परिस्थिति ने इतना किया कि छिपी हुई बुराई को उभार दिया। बुराई को नए सिरे से उत्पन्न करने की शक्ति उसमें नहीं होती।

मूल में भूल है। युग का प्रमुख विचार बन रहा है—परिस्थितियों को सुधारो, तात्पर्य कि बुराई की शाखा को मिटा दो, जबकि होना यह चाहिए कि बुराई के मूल को सुधारो। मूल सुधारे बिना शाखाएं बनती-बिगड़ती रहेंगी, अर्थ कुछ नहीं होगा। परिस्थितियां परिवर्तित होती रहती हैं। एक परिस्थिति में सुधार आता है और उससे पोषण पाने वाली बुराई छिप जाती है। दूसरी परिस्थिति बनती है और दूसरे प्रकार की बुराई साकार बनने लग जाती है।

एक परिस्थिति में रोटी की समस्या है। दूसरी स्थिति में उसका समाधान मिलता है, किंतु वैयक्तिक स्वातंत्र्य सीमा से अधिक बंध जाता है। नई स्थिति नई समस्या को जन्म न दे, यह लगभग असंभव-सा है। इसीलिए यह मानना होगा कि परिस्थिति का परिवर्तन नई परिस्थिति उत्पन्न कर सकता है, किंतु व्यक्ति को परिस्थिति के प्रभाव से मुक्त नहीं कर सकता। व्रत की परंपरा या हृदय-परिवर्तन में परिस्थिति-परिवर्तन से पहले उससे अप्रभावित रहने की बात मुख्य है। आंतरिक दुर्बलता मिटने पर बुरी परिस्थिति व्यक्ति की कसौटी भर बन सकती है, राक्षसी बन उसे डकार नहीं सकती।

समस्याएं कई दैहिक होती हैं और कई मानसिक। कई बाहरी (पर-कृत) होती हैं और कई आंतरिक (स्व-कृत)। कई सामूहिक होती हैं और कई वैयक्तिक। दैहिक, बाहरी और सामूहिक समस्याओं को प्राथमिकता मिलती है। दैहिक समस्याएं न सुलझें तो देह टिके कैसे? बाहरी समस्याएं सहज बुद्धिगम्य हो जाती हैं—उनकी बुराई समझने में कोई तार्किक कठिनाई नहीं होती। सामूहिक समस्याएं विस्फोट कर सकती हैं। यही कारण है कि मनुष्य की सारी चेष्टाएं इनके समाधान की ओर मुंह किए चल रही हैं।

रोटी की समस्या, कपड़े और मकान की समस्या—ये एक कोटि की समस्याएं हैं। दूसरी कोटि की समस्याएं हैं—सौंदर्य और विलास के साधनों की। सामाजिक समस्याएं भी हमारे सामने हैं। एक व्यक्ति दहेज देना नहीं चाहता, किंतु दहेज दिए बिना बेटी की 'गति' नहीं। रिश्वत देने की इच्छा नहीं। किंतु, वह दिए बिना सत्य भी बदल जाता है। टिकट नहीं मिलती। 'लायसेंस' नहीं मिलते। बड़ों से मुलाकात नहीं हो सकती। सार्वजनिक अस्पताल में रोगी की सही चिकित्सा की गारंटी भी नहीं मिलती।

ये सभी अखरने वाली बातें हैं। इसीलिए इन्हें सुलझाने के लिए समाजवाद, साम्यवाद, प्रजातंत्र आदि-आदि शासन-पद्धतियां, नागरिक सभ्यता और सामाजिक सुधार के कार्यक्रम चलते हैं। जबकि मानसिक, आंतरिक और वैयक्तिक समस्याओं की उपेक्षा हो रही है। ध्यान देना होगा कि सारी समस्याओं का मूल यही तो नहीं है? दैहिक आवश्यकताएं पूरी हो जाती हैं, फिर भी उत्तरोत्तर अतृप्ति बढ़ती है। अमुक रोग या अमुक स्थिति में अमुक पदार्थ खाना हितकर नहीं, किंतु वह स्वादिष्ट है, इसलिए खा लिया जाता है। अधिक अब्रह्मचर्य से शारीरिक और मानसिक शक्तियां क्षीण होती हैं, किंतु संयम नहीं रहता। अनावश्यक संग्रह से चिंता, भय और प्रतिशोध बढ़ते हैं, किंतु उसके बिना मानसिक संतुष्टि नहीं होती। केवल उन्नति की महत्त्वाकांक्षा ही नहीं, सर्वोच्च बनने के लिए दूसरों को गिराने की प्रवृत्ति, यशोलालसा, ईर्ष्या, असहिष्णुता आदि-आदि ऐसी वृत्तियां हैं, जो व्यक्ति की आंतरिक शांति को कुरेदती हैं।

सर्व सुविधा-संपन्न राष्ट्र के नागरिक—जिन्हें जीवन की आधारभूत जरूरतें नहीं सतातीं, फिर भी क्या इन वृत्तियों से कोई मुक्त हैं? पर्याप्त सुविधाएं मिलने पर भी उनमें संयम की चेतना न जागे तो शांति नहीं आती।

चाह या अपेक्षाएं अनेक होती हैं। जिनसे जो अपेक्षाएं हैं, वे फलीभूत नहीं होती हैं, तो अपेक्षा रखने वाला खाक हो जाता है। संपन्न व्यक्तियों के जीवन में भी उलझनें आती हैं।

यह सच है कि सुविधा का स्वाद चखे बिना शांति का मूल्य समझ में नहीं आता। अभाव में प्रत्येक वस्तु मूल्यवान बन जाती है, पर शांति की खोज सुविधाओं के अभाव से नहीं निकलती। वह अतिरेक से भी उत्पन्न होती है। इतिहास देखिए—बड़े-बड़े धनपति सुविधाओं का भोग करते-करते थक गए, पर तृप्ति नहीं मिली। उस अतृप्ति ने ही उन्हें तृप्ति का मार्ग ढूंढ़ने को प्रेरित किया और वे सुविधाओं को ठुकरा कर कठोर पथ की ओर चल पड़े। त्याग की अकिंचनता ने उन्हें तृप्त बना दिया।

सच है कि पदार्थ का अभाव सताता है, उसे पाने का भाव असंतोष पैदा करता है। पर, संयम स्वस्थ बनाता है। एक व्यक्ति मोटर दौड़ाए जाता है, तब किसी गरीब को ईर्ष्या हो आती है और उसे पैदल चलने में दीनता जान पड़ती है। वह मोटर के लिए एक बारगी तड़प उठता है। जबकि एक संयमी में उसे देख कोई आकांक्षा नहीं जगी। तात्पर्य की भाषा में समझें कि तृप्ति अभाव में भी नहीं है, भाव में भी नहीं है—यह उनसे परे है। यह जो परे की वृत्ति है, वही हृदय-परिवर्तन है। समस्या यह है कि लोगों की धन में निष्ठा है। वे सुविधाओं को ही सर्वस्व मान बैठे हैं। धन से परे भी सुख-शांति है—यह उनकी समझ से परे है। दूसरी ओर धनपति पूंजी के दलदल में फंसे हुए हैं। उनकी शांति की चाह सुविधा के व्यामोह को चीर कर आगे नहीं बढ़ पाती। धोबी का कुत्ता भूख के मारे पिंजर भर रह गया। मित्र कुत्तों ने उसे वह स्थान छोड़ स्वतंत्र घूमने की सलाह दी। वह भी इसे महसूस करता था, किंतु वैसा हो नहीं सका। कुत्ते का नाम था 'सताबा'। धोबी की दोनों पत्नियां लड़तीं, तब एक-दूसरे को 'सताबे की बेर' कह कर पुकारतीं। गाली-गलौज में उनके पति होने का मोह वह कुत्ता नहीं छोड़ सकता था। भूख ने उसके प्राण ले लिए।

चारों ओर ऐसा ही व्यामोह छा रहा है। जीवन के मूल्य स्वयं अनीति के पोषक बन रहे हैं। इस स्थिति में हृदय-परिवर्तन का प्रश्न बड़ा जटिल बन जाता है। इसे जटिल बनाने वाला एक दूसरा कारण और भी है। धनपतियों के शोषण ने निर्धनों के दिल में एक प्रतिशोध की भावना उत्पन्न कर दी है। वे केवल धनपतियों के ही विरोधी नहीं, अपितु उनकी मान्यताओं के भी विरोधी बन गए। धनपति अध्यात्म और संतोष की बातें करते हैं, तो उन्हें वे बातें ढकोसला लगती हैं। धर्म को भी वे शोषण का आलंबन मान बैठे हैं। उनके मानने के पीछे एक तथ्य भी है। शोषण के द्वारा जो धन-संग्रह करते हैं, उसके शुद्धि की भावना से उसका थोड़ा अंश खर्च कर वे धर्मवीर बन जाना चाहते हैं। धर्म-आराधना की यह सीधी क्रिया उन्हें शोषण से दूर होने का अवसर ही नहीं देती।

आज के विश्व-मानस का अध्ययन कीजिए। आपको लगेगा कि आत्मा, धर्म, ईश्वर, परलोक, सद्गति और पारमार्थिक शांति की चर्चाएं किसी को नहीं भातीं। चरम लक्ष्य हो रहा है—इस जीवन की अधिकतम उन्नति। हृदय-परिवर्तन की अपेक्षा उन्हें है—जो आत्म-शांति में विश्वास रखते हैं, हिंसा को अशांति बढ़ाने वाली मानते हैं। भौतिक सुख-सुविधाएं ही जिनका चरम साध्य है, वे अहिंसा को क्यों महत्त्व दें? यह धूप जैसा साफ है कि अधिक चोरबाजारी करने वाले अधिक धनी बनते हैं। जो भलाई को लिए बैठे हैं, वे मुंह ताकते रहते हैं। चोरबाजारी करने वाले बड़े हैं। भलों को पूछे कौन? आखिर उन्हें भला बनने से क्या लाभ? भलाई को प्रोत्साहन कैसे मिले? जो दुनियावी बातों से लगाव रखते हैं, एषणाओं में रस लेते हैं, यज्ञ, प्रतिष्ठा, संतान और सुविधाएं चाहते हैं—वे भले नहीं बन सकते। भले आदमी उसी दुनिया के प्राणी हो सकते हैं, जिन्हें इन बातों से कोई लगाव नहीं।

पदार्थ की, मान-सम्मान की, बड़प्पन की निरपेक्षा विरक्ति से आती है और विरक्ति मोह के न्यून होने से आती है और मोह की न्यूनता, आत्मा और पुद्गल (चेतन और अचेतन) का भेद जानने से होती है। हृदय-परिवर्तन का असली रूप यही निरपेक्षता है। निरपेक्षता है—वैयक्तिक जीवन की स्थिति। एक सामाजिक व्यक्ति उसे कैसे स्वीकार कर ले? इस बिंदु पर विचार रुक जाता है। वर्तमान समस्याओं का मूल यही लगता है।

सापेक्षता के एकांगी स्वीकार से कठिनाइयां बढ़ती हैं। सापेक्षता से स्पर्धा, स्पर्धा से हिंसा और हिंसा से

अशांति—यह क्रम चल रहा है। हिंसा को प्रयोज्य मानने वाले भी शांति में विश्वास रखते हैं, विसैन्यीकरण या सैन्य के अल्पीकरण और निरस्त्रीकरण की चर्चा करते हैं। तब लगता है कि हिंसा में उनका विश्वास तो नहीं है, वे उसे अच्छी भी नहीं समझते, पर सिर्फ विवशता की स्थिति में उसके प्रयोग का समर्थन करते हैं। जैसे—कई धार्मिक संप्रदायों ने 'आपद् धर्म' के रूप में हिंसा का समर्थन किया। रूप में थोड़ा अंतर है, भावना में स्यात् नहीं। आपद् धर्म आक्रमण के प्रतिकार के लिए हिंसा का समर्थन करता है। पर हिंसा, जो सबके लिए खतरा है—उत्तम मार्ग नहीं हो सकता। क्योंकि हिंसा करने वाले के विरुद्ध भी इस अवस्था में हिंसा ही बरती जाती है। इस तरह हिंसा बुराई का प्रतिकार नहीं, बुरों का प्रतिकार हो जाती है। बुरा कौन नहीं? न्यूनाधिक मात्रा में सब बुरे हैं। हृदय-परिवर्तन का मार्ग है—बुराई मिटे। व्यक्ति को मिटाने की परंपरा गलत है। मिटाने की जो प्रकृति है, वहां फिर बुरा-भला नहीं देखा जाता।

विवशता व्यक्ति को क्रूर बनाती है। क्रूरता हिंसा बन कर फूटती है। ऐसी स्थितियां पहले भी हुईं, अब भी होती हैं और जब-तब हो सकती हैं। कारण साफ है—हिंसा प्रतिशोध लाती है। हिंसा के प्रति ही हिंसा उपजती है। शोषण, क्रूरता और दुर्व्यवस्था करने वालों के प्रति हिंसा बढ़ती है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। किंतु, हिंसा के प्रयोग को जो दार्शनिक व सैद्धांतिक रूप मिलता है, वह कुछ आश्चर्य जैसा है। कोई भी व्यक्ति यह नहीं चाहेगा कि कोई उसके विरुद्ध हिंसा बरते। दल या राष्ट्र के लिए भी यही बात समझिए। यह भी सहजतया (स्थूल रूप में) लगभग सच है कि कोई हिंसा करना भी नहीं चाहता।

व्यक्ति समाज में बंधता जरूर है, किंतु मूल प्रकृतियों में परिवर्तन नहीं आता। वह राष्ट्रीय रूप में व्यापक बनता है, किंतु वह अपने राष्ट्र की परिधि में बंध कर अति-राष्ट्रीयतावादी बन जाता है। अपना प्रांत, अपना गांव, अपना घर, अपना परिवार, अपना शरीर—इस प्रकार की विभाजक मनोवृत्ति उसे सही मानी में व्यक्ति ही बनाए रखती है। सामाजिकता सिर्फ काल्पनिक या कार्यवाहक जैसी होती है। अपने लिए समाज से कुछ मिलता है, तब तक वह सामाजिक बना रहता है। किंतु, जहां अपने स्वार्थ की क्षति मालूम होती है, वहां समाज उसके लिए कौड़ी के मूल्य का भी नहीं होता। इस अति-स्वार्थवाद से ही विषमताएं और शोषण आदि बुराइयां बढ़ती हैं। वैयक्तिक रूप संकुचितता उत्पन्न करता है, किंतु यह वस्तु-स्थिति है। उसे मिटाया नहीं जा सकता। अपने शरीर, अपनी पत्नी और अपने पुत्र के प्रति या साधारणतया अपनी रुचि के अनुकूल पदार्थ के प्रति जो ममता हो सकती है, वह दूसरों के प्रति नहीं हो सकती। वैयक्तिक संपत्ति के प्रति जितना ध्यान दिया जाता है, उतना सामाजिक संपत्ति के प्रति नहीं। 'मेरी है', 'इसका लाभ मुझे मिलेगा'—इसमें कोई विकल्प नहीं होता। 'सबकी है', 'इसका लाभ सबको होगा'—यहां अनेक विकल्प खड़े हो जाते हैं। जैसे—फिर मैं अकेला इसकी चिंता क्यों करूं? मैं अधिक श्रम क्यों करूं? मैं स्पर्धा क्यों करूं? मैं लेखा-जोखा क्यों करूं, आदि-आदि।

वैयक्तिक सत्ता कोई बुरी वस्तु नहीं है, अगर वह हित-अहित के दायित्व के रूप में हो। व्यक्ति के अच्छे और बुरे कार्य का परिणाम आज या आगे उसी में होगा—यह धारणा व्यक्ति को बुराई से बचाती है। कार्य के परिणाम का दायित्व व्यक्ति पर नहीं रहता है, तब अच्छाई में उसे रस नहीं आता और बुराई से वह सकुचाता नहीं। जब इंद्रियां लोलुप होती हैं और मन चपल, तब उसे इच्छा-पूर्ति के सुंदर से सुंदर साधन चाहिए। कार्य का परिणाम भुगतने की चिंता नहीं होती, तब उनकी प्राप्ति की बात मुख्य होती है। इसी मनोवृत्ति ने मनुष्य को भोगी बना रखा है। हृदय-परिवर्तन का अर्थ है—त्याग की ओर झुकाव।

धन का संग्रह करते समय वह नहीं सोचता कि जब सबके पास इतना संग्रह नहीं है या सब इतना संग्रह नहीं करते, तो मैं अकेला यह क्यों करूं? भलाई के स्वीकार में व्यक्तिवादी मनोवृत्ति होनी चाहिए। व्यक्ति आत्मानुशासन के द्वारा ही बुराई से बच सकता है। आत्मानुशासन के दो स्रोत हैं—आत्म-समर्पण और आत्म-नियंत्रण। आत्म-समर्पण से सहयोग और प्रेम बढ़ता है, आत्म-नियंत्रण से विशुद्धि आती है। आत्मानुशासन में कर्तव्य धर्म की निष्ठा होती है, इसलिए वह दूसरे की बुराई को अपनी बुराई के लिए प्रोत्साहित नहीं बनने देता।

व्यक्ति का यह रूप तब समझ में आता है, जब हम उसे परिस्थितियों से नियंत्रित न मान उनसे स्वतंत्र भी मानते

हैं। इसके अनुसार निरपेक्षता व्यक्ति का स्वतंत्र मूल्य है, उपचरित मूल्य है—सापेक्षता। नग्नता स्वाभाविक है और लज्जा उपचरित। नग्नता निरपेक्ष है और लज्जा सापेक्ष। लज्जा की मर्यादा के बारे में सब एकमत नहीं हो सकते, किंतु नग्नता सहज है—इसमें दो मत होने की बात नहीं। देश, काल और स्थिति के अनुसार मनुष्य, समाज के संस्कार बनते-बिगड़ते हैं। उनकी सचाई की कसौटी रुचि बन सकती है, जो मान्यता का सत्य है। वस्तु-स्थिति का संस्कार से लगाव नहीं होता।

व्यक्ति को समाज व समाजजनित परिस्थितियों से बद्ध मानने वालों की दृष्टि में परिवर्तन की दिशा सामूहिक ही हो सकती है, वैयक्तिक नहीं। स्थितियां बदलने पर व्यक्ति को स्वयं बदलना पड़ता है। व्यक्ति का हृदय बदलना ऐच्छिक है। समाज की मर्यादा बदलने पर व्यक्ति को बदलना अनिवार्य है। इतिहास के प्रोफेसर बताते हैं—जब कभी समाज में परिवर्तन आया, वह जनता की सामूहिक क्रांति से आया, व्यक्ति-व्यक्ति के परिवर्तन से नहीं। जन-क्रांति को ही दूसरे शब्दों में सत्ता की क्रांति समझिए। परिवर्तन की अनिवार्यता सत्ता में है। सत्ता जब तक ऊपर से नीचे की ओर नहीं सरकती, तब तक मौलिक परिवर्तन नहीं आता। शोषक वर्ग का शासन शोषित वर्ग की कठिनाइयों को नहीं समझ सकता। शोषित और शोषक का वर्ग-भेद तभी मिट सकता है, जब सत्ता शोषक के हाथ से लुढ़क कर शोषित के हाथ में आ जाए। यह भी परिवर्तन है। हृदय का नहीं, किंतु परिस्थिति का।

हृदय का परिवर्तन व्यक्ति के अपने विवेक से होता है और स्थिति का परिवर्तन सत्ता से। विवेकशून्यता में परिवर्तन की मौलिकता को देखने की दृष्टि नहीं होती, इसलिए उसमें चलते-चलते विकार आ सकता है। राजतंत्र का इतिहास देखिए। वह किस रूप में चला और उसकी अंत्येष्टि किस रूप में हुई। हृदय-परिवर्तन में सामूहिक स्थिति के परिवर्तन की अनिवार्यता नहीं है। किंतु, यह एक दिशा है, जो सर्व-व्यापी न होने पर भी सबको सही मार्ग दिखा सकती है। संस्कार-परिवर्तन से विचार-परिवर्तन, विचार-परिवर्तन से हृदय-परिवर्तन और हृदय-परिवर्तन से स्थिति का परिवर्तन होता है। यह क्रम अच्छाई और बुराई, दोनों का है।

शोषण के लिए हृदय में स्वार्थ चाहिए और उसे छोड़ने के लिए परमार्थ। अपनी सुख-सुविधाओं के लिए दूसरों की सुख-सुविधाओं को न लूटने की वृत्ति जाग जाए, वैसा संस्कार बन जाए—यही हृदय-परिवर्तन का सिद्धांत है। यह विवाद से परे का वाद है, इसलिए इसकी सबको अपेक्षा है। ❖

घर–परिवार और मित्र–परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर **'जैन भारती'** उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक–नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म–दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, **'जैन भारती'** अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती
एक संपूर्ण पत्रिका है।
वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए
जैन भारती
पढ़ें—सबको पढ़ाएं

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401

अध्यात्म, स्तवन और भारतीय वाङ्मय

साध्वी पुण्ययशा

निस्संदेह स्तुति आत्मा को परमात्मा से जोड़ने का एक महान सेतु है। ये स्तुतियां परमानंद प्राप्त कराने वाले अमोघ अस्त्र हैं। इनके मनन, स्वर गुंजन और लयबद्ध पुनरुच्चारण द्वारा ही शक्ति-केंद्रों का जागरण व ऊर्जा-केंद्रों का सर्जन होता है। अंतःकरण की शुद्धि और कषाय-कल्मषों के बंधन शिथिल पड़ते हैं। अतः स्तुति, वंदना, उपासना, आराधना आदि प्रसंगों में सामूहिक उच्चारण से वातावरण की पवित्रता के साथ भावों में भी उत्कृष्टता आती है और प्रेरणा भी मिलती है। इस दृष्टि से आत्म-साधना की प्रणाली को अनुपादेय करना उचित नहीं है। यदि साधक अंतःकरण में परमात्मा का चिंतन करे, उसमें गहरा अवगाहन करे, आत्म कल्याण के लक्ष्य पर ध्यान केंद्रित रखे और सदाचार में किसी प्रकार की आंच न आने दे तो निश्चित ही उसका अंतःकरण दिव्यभावों से चमत्कृत हो उठेगा।

भारतीय संस्कृति में 'स्तुति' शब्द के प्रयोग की सुदीर्घ परंपरा रही है। प्राचीन वाङ्मय में मंत्र, छंद, अर्च, स्तोम, स्तव, स्तोत्र, उपासना, आराधना, जरा, ऋचा, यजु, साम आदि शब्द स्तुति के पर्याय माने गए हैं। वैदिक, बौद्ध और जैन—तीनों परंपराओं में स्तव और स्तुति—इन दोनों शब्दों का मुक्त रूप में प्रयोग हुआ है। सामान्यतः इन दोनों का अर्थ बहुमान, पूर्ण श्रद्धांजलि, अर्पण करना है। लेकिन, साहित्यशास्त्र में तीन श्लोक तक वाली श्रद्धांजलि को स्तुति और उससे अधिक श्लोक वाली श्रद्धांजलि को स्तव (स्तवन) कहा जाता है। प्राचीन आचार्यों ने इन दोनों में एक भेद रेखा खींचते हुए कहा है—स्तव बड़ा होता है और स्तुति छोटी। पर सामान्यतः दोनों शब्द एकार्थक हैं, एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

दो अंकों में समाप्य आलेख की अंतिम कड़ी

महाभारत एवं गीता में स्तोत्र, स्तव, स्तुति शब्द अनेक स्थलों पर उल्लिखित हैं। श्रीमद्भगवद्पुराण में भक्तिरस से परिपूर्ण 132 स्तुतियां उपन्यस्त हैं।[1] भगवान महावीर ने स्तव-स्तुति को *मंगल* कहा है।[2] जैन आगमों में विवर्णित विरत्थुई[3], महावीरत्थुई[4], शक्कत्थुई[5], 'चतुर्विंशति स्तव[6] (लोगस्स), संघ स्तुति[7] उपधान श्रुत (आचारांग) अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। जैन परंपरा में आगमों का वही स्थान है, जो वैदिक परंपरा में वेदों का, बौद्ध परंपरा में त्रिपिटक का, ईसाई परंपरा में बाइबिल का और इस्लाम परंपरा में कुरान का है।

स्तुति अर्थ और स्वरूप

अदादिगणीय 'ष्टुभ् स्तुतौ' धातु से 'स्त्रियां क्तिन्'[8] से भाव में 'क्तिन' प्रत्यय करने पर 'स्तुति' शब्द निष्पन्न होता है। 'स्तवनं स्तुतिः' अर्थात् स्तवन या प्रशंसा, स्तोत्र, इडा, नुति आदि है।[9] विभिन्न कोश ग्रंथों में भी स्तुति शब्द के अर्थ पर प्रकाश डाला गया है। आचार्य शंकर के मत में भगवत्गुण संकीर्तन ही स्तुति है। विष्णुसहस्रनाम

भाष्य में 'स्तुवन्तः' शब्द का अर्थ 'गुण संकीर्तनम् कुर्वन्तः' किया है।[10] स्तुति में अपने उपास्य के प्रति विविध गुणों का संकीर्तन या गायन किया जाता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने भगवान जिनेश्वर के विद्यमान गुणों के उत्कीर्तन को स्तुति, स्तवन और स्तोत्र कहा है—

सारा पुण थुई-थोंम गंभीरपयत्थ विरइया जे।
सब्भूयगुण क्कित्तणरूवा खलु ते जिणाणं तु।।

अर्थात् सारे आगमों का सार स्वरूप गंभीर पदार्थ से विरचित, प्रभु के विद्यमान गुणों का उत्कीर्तन स्तुति-स्तोत्र होता है। जैसे रत्न (औषधि-विशेष) रोगी के विभिन्न रोगों—ज्वर, शूल आदि को शांत कर देता है, समाप्त कर देता है—उसी प्रकार भाव-रत्न-रूप स्तुति-स्तोत्र कर्म-रूप-ज्वर का विनाश कर देता है। एक आचार्य ने स्तोत्र के षड्विध लक्षणों का निर्देश किया है—

नमस्कारस्तथाशीश्च सिद्धान्तोक्तिः पराक्रमः।
विभूतिः प्रार्थना चेति षडविधं स्तोत्र लक्षणम्।।

अर्थात् नमस्कार, आशीष, सिद्धांतानुसार कथन, शूरवीरता, विभूति और प्रार्थना—इन छह प्रकार के लक्षणों से युक्त स्तोत्र होता है।[11]

उपर्युक्त व्युत्पत्तियों, परिभाषाओं एवं लक्षणों के निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि अदृश्य सत्ता या प्राकृतिक विभूतियों के ज्ञान से उनके प्रति पूज्य भाव या श्रद्धा होने के कारण भक्त भक्ति-भावना पूर्वक हृदय से उन्हीं के विविध गुणों का संगापन करने लगता है।

स्पष्ट है कि स्तुति में ज्ञान और भाव—इन दोनों तत्त्वों की प्रधानता रहती है। स्तोता ज्ञान से जानकर पूर्ण श्रद्धा भाव से समर्पित हो जाता है। अंग्रेजी कवि हेनीसन के शब्दों में—'जगत जिसकी कल्पना करता है, उससे कहीं अधिक महान कार्य प्रार्थना या स्तुति के द्वारा सिद्ध हो सकता है।' नेताजी सुभाषचंद्र बोस नियमित रूप से प्रतिदिन एक घंटा आत्मचिंतन करते थे। एक व्यक्ति ने उनसे कहा—'आपका एक-एक क्षण राष्ट्र के लिए बहुत मूल्यवान है, फिर आप एक घंटा निष्क्रिय बैठ कर क्यों निरर्थक करते हैं।'—नेताजी ने बड़ा मार्मिक उत्तर दिया—'मैं एक घंटा निरर्थक नहीं करता। जब मैं निरंतर काम करते हुए थक जाता हूं तो आत्मचिंतन से पुनः ताजगी पाता हूं। मैं अपने भीतर की 'बैटरी' को, जो निरंतर काम करते थक जाती है, उसे पुनः एक घंटे के ध्यान से 'चार्ज' कर लेता हूं।'

अमेरिका में 'साइंस क्रिश्चियन सोसायटी' के पचासों चर्च और हजारों सदस्य हैं। उस सोसायटी का एक नियम है कि कोई भी सदस्य दवा नहीं ले सकता। अमेरिकी प्रवासी फूलकुमारी सेठिया ने उस सोसायटी के एक सदस्य से पूछा—'आप लोग बीमार तो होते ही होंगे। फिर आप अपनी बीमारी का उपचार कैसे करते हैं?'—उस सदस्य ने प्रत्युत्तर में कहा—'गॉड इज लव'—परमात्मा इतना उदार और शक्तिशाली है कि वह करुणा की वर्षा करता है और हमारी सब बीमारियां दूर हो जाती हैं। हम रोगी में ऐसी आस्था जगाते हैं, ईश्वर के प्रति इतनी सघन आस्था का निर्माण करते हैं कि उसकी बीमारियां समाप्त हो जाती हैं।[12]

उपरोक्त घटना-प्रसंग को जब मैंने—'अप्पाणं शरणं गच्छामि' में पढ़ा तब मुझे चतुर्विंशति स्तव, शक्रस्तुति आदि स्तवनों में समागत—**आरोग्ग बोहि लाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु, ता देव दिज्ज बोहिं भवे भवे पास जिण चंद, नाथ! मयि करुणा दृष्टिं दर्शनानंदमयी सृष्टिं**—'हे प्रभो! आनंददाता ज्ञान हमको दीजिए, शीघ्र सारे दुर्गुणों को दूर हमसे कीजिए, प्रभु मेरे अवगुण चित्त न धारो, प्रभो! मुझे सन्मार्ग में ले चल—इत्यादि पदों में अंतर्निहित रहस्य स्वतः हस्तगत हो गए। सचमुच आरोग्य, बोधि, समाधि, संयम, आनंद, ज्ञान एवं सिद्धि कहीं बाहर नहीं, स्वयं अपने भीतर है। स्तुति के माध्यम से अवचेतन की भूमिका में स्थित हो, इन्हें प्राप्त करने में कोई संदेह नहीं है।

स्तुति और विज्ञान

विज्ञान में 'अवचेतन' का वाचक शब्द Neuro Endrocrine System है जिसका अर्थ ग्रंथि-तंत्र और नाड़ी-तंत्र का संयुक्त कार्य-तंत्र है। यह संयुक्त-तंत्र मस्तिष्क को प्रभावित करता है, इसलिए मूल्यवान है। यदि इसे स्तुति, मंत्र, स्वाध्याय, सद्चिंतन आदि सम्यक् साधनों द्वारा संतुलित रख सकें, तो सभी अनिष्ट

भावनाओं से मुक्ति मिल सकती है और इष्ट भावनाएं अपना साम्राज्य स्थापित कर सकती हैं।

स्तोत्र वस्तुतः निर्माता के मनोगत भावों का प्रकटीकरण तो होते ही हैं, साथ ही पठन या श्रवण करने वालों के मन में उन्हीं भावावेगों का संचार एवं जागरण करने वाले भी होते हैं। यही उनकी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि और उपयोगिता भी है। यही कारण है कि चौबीस तीर्थंकरों की स्तवना में अध्यात्मयोगी श्रीमद् जयाचार्यश्री के श्रीमुख से यह स्वर स्थान-स्थान पर अनुगुंजित हुआ है—'मैं प्रभु की शरण में जा रहा हूं।' सिद्धांततः सत्य तो यह है कि भक्ति-रसाप्लावित मानव क्षणभर में अनंतानंत कर्म वर्गणाओं को क्षय कर आत्म साक्षात्कार तक का भाव-लाभ प्राप्त कर सकता है। अंतःचित्त प्रसत्ति, निरोगता, वाक्सिद्धि आदि अन्य लाभ तो उसके सन्मुख बहुत छोटे रह जाते हैं। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आध्यात्मिक स्तोत्र, शब्द-शक्ति, भावों की तल्लीनता एवं वीतराग गुणों की अनुप्रेक्षा परमानंद की भूमिका का निर्माण करती है। इस रहस्य को आचार्य हेमचंद्र की वाणी में समझा जा सकता है—

'वीतराग स्मरन् योगी वीतरागत्वमाप्नुयात्'

अर्थात् जो योगी, ध्यानी वीतराग का स्मरण करता है, वह वीतराग बन जाता है।

स्तुति की महत्ता एवं उपयोगिता

स्तुति मनुष्य के अंतरंग में सोई हुई उन शक्तियों और क्षमताओं को जागृत करती है, जो उसे उच्च आध्यात्मिक लक्ष्य तक पहुंचाती है। वीतराग स्तुति से स्वात्मा का विवेक उत्पन्न होता है। स्तोता आत्मिक-शक्ति से परिचित होता है। स्तोता के चित्त में सर्वप्रथम अपने स्तव्य के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होने से उसके अंतःकरण में इस प्रकार की भावना उत्पन्न होती है—'प्रभो! तेरे अंदर जो अनंत-ज्ञान, अंनत-दर्शन, अनंत-शक्ति और अनंत-सुख है—वह मेरी आत्मा में भी आवीर्भूत है। वीतराग प्रभो! आपके ये गुण मेरे लक्षण बन जाएं।' —इस प्रकार सबके लिए मंगल-स्वरूप होने से वीतराग स्तुति मंगलमय है। यही कारण है कि स्तव-स्तुति (थवथुई) के साथ महावीर वाणी में 'मंगल' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यह मंगल शब्द भाव-मंगल के रूप में मननीय है।

मंगल का अर्थ बड़ा ही विलक्षण है।—'**मं पापं गालयति**'—अर्थात् जो पाप को समाप्त कर दे—वह मंगल है। **मंगलं सुखं लातीति मंगलः**—अर्थात् जो सुख को लाता है—वह मंगल है। जिसके आचरण से दुख, संकट, आपत्तियां-विपत्तियां, विघ्न-बाधाओं का निवारण हो, जीवन का हित सधे, दुखजनित पापमय भावनाओं एवं वासनाओं का नाश हो—उसे मंगल कहते हैं। धर्म उत्कृष्ट मंगल है। यह भाव-मंगल है और भव-भ्रमण से मुक्त करता है। जीवन की इस भव्य वेला में जब शुभ कार्य करने का प्रसंग उपस्थित होता है, तब उस शुभ कार्य में विघ्न न आए, इस हेतु मंगलाचरण की प्राचीनकाल से ही परंपरा चल रही है। तीर्थंकरों के नाम मंत्राक्षर सम हैं। उनकी शरण स्वयं मंगल है। जो स्वयं मंगल होता है, वही दूसरों को मंगल दे सकता है। वही दूसरों की विघ्न-बाधाओं को दूर कर सकता है। वही मंगल मंगलाचरण के रूप में प्रस्तुत करना उचित है और वह मंगल है संपूर्ण मंगलों के स्थान-भूत तीर्थंकर प्रभु का नाम-स्मरण और उनके अनंत स्वरूप की स्तुति।

मंगल नाम का एक ग्रह भी है। वह बहुत चमकदार और लाल रंग का होता है। जिसके कारण उसके आस-पास के ग्रह प्रभावहीन हो जाते हैं। इसी प्रकार जिसके कारण अनिष्ट वस्तुएं प्रभावहीन हो जाएं—वह मंगल है। आध्यात्मिक दृष्टि से मंगल चार हैं—1. अरिहंत, 2. सिद्ध, 3. साधु, 4. केवलीभाषित धर्म। पंच-परमेष्ठी व महान आत्माओं की स्तुति से निम्न लाभ होते हैं—● अनिष्ट निवारण ● पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा ● समभाव वृद्धि ● भवभ्रमण का विच्छेद ● विघ्न उपशांति ● कार्य सिद्धि ● भय निवृत्ति ● चित्त की निर्मलता ● कुमति निवारण ● सद्‌गुण वृद्धि।

इस प्रकार स्तुति के साथ प्रयुक्त 'मंगल' शब्द इस तथ्य को उजागर करता है कि वीतराग स्तुति लोकोत्तर, पारमार्थिक और वास्तविक मंगल है। वीतराग आत्माओं से अनुराग होने पर दर्शनाचार के प्रति आस्था सुदृढ़ बनती है। दर्शन के अपघाती कर्म दूर होते हैं। परिणाम-स्वरूप

सम्यक्त्व की विशुद्धि होने से आत्मा के निम्नोक्त गुण प्रकट होते हैं—(1) ज्ञान वृद्धि, (2) दर्शन विशुद्धि (क्षायक सम्यक्त्व की प्राप्ति), (3) अशुभ कर्मों के बंध में रुकावट, (4) शुभ कर्मों का बंध, (5) अशुभ कर्मों की निर्जरा।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि स्तुति स्तोता को बहिरात्मा से अंतरात्मा, अंतरात्मा से महात्मा, महात्मा से परमात्मा तक की भूमिका को प्राप्त कराने का माध्यम है। इसी तथ्य को वर्तमान संदर्भ में इस प्रकार समझा जा सकता है कि क्षायक सम्यक्-दर्शन की प्राप्ति होने पर स्तोता का 'आई-क्यू', 'इ-क्यू' में परिवर्तित होकर 'एस-क्यू' में प्रवेश करने लगता है। अथवा धीरे-धीरे भाव शुद्धि करता हुआ स्तोता निर्ग्रंथ हो क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होता है। अंत में केवल-ज्ञान, केवल-दर्शन अथवा अरिहंत पद को प्राप्त कर सिद्ध, बुद्ध व मुक्त बन जाता है। जब तक स्तोता को यह मोक्षप्राप्ति का लक्ष्य सिद्ध नहीं होता तब तक वह वीर्याचार से प्रत्येक पर्याय-व्यवहार को शुद्ध बनाता हुआ, उत्तमोत्तम भाव-धारा में रमण करता हुआ, दुर्गम राहों को सरलता से तय करता हुआ भवोभव में अधिक सामर्थ्यवान पुण्योपार्जन करता हुआ, श्रेष्ठ गुण श्रेणी तय करता हुआ मुक्ति के उत्तुंग शिखर का आरोहण करता है। अतः स्तुति में प्रयुक्त 'मंगल' शब्द की उपयुज्यता असंदिग्ध है।

स्तुति के प्रकार

भारतीय संस्कृति में स्तुति के विविध रूप दृष्टिगोचर हैं—(1) द्रव्य स्तुति, (2) भाव स्तुति, (3) प्रणाम रूप स्तुति, (4) गुणोत्कीर्तन रूप स्तुति, (5) याचना रूप स्तुति आदि। यदि कामना की दृष्टि से इनका वर्गीकरण किया जाए तो इन सबका समावेश दो विभागों में हो सकता है—(1) सकाम स्तुति और (2) निष्काम स्तुति।

सकाम स्तुति

सकाम स्तुतियों में स्तोता की कोई न कोई कामना निहित रहती है। सांसारिक अभ्युदय, दुख निवृत्यर्थ, शोक प्रशमनार्थ, धन, दौलत, पुत्र, पौत्र, पत्नी, आयु, यश, ऐश्वर्य, विजय, शक्ति, शरीर-सौष्ठव, बुद्धि एवं दिव्य लोक की प्राप्ति के लिए समर्पित स्तुतियां इस संवर्ग के अंतर्गत आती हैं। इस संवर्ग के स्तोता सांसारिक अभ्युदय, रोग-मुक्ति इत्यादि प्रसंग उपस्थित होने पर वैसे पुरुष की स्तुति में प्रवृत्त होता है, जो उसका मनोवांछित पूर्ण कर सके।

निष्काम स्तुति

निष्काम स्तुतियों में सांसारिक कामना का अभाव रहता है। इसमें स्तोता का आलंबन निर्गुण, निराकार, सर्वव्यापक, परमब्रह्म परमेश्वर होता है। सिद्ध परमात्मा के अद्वितीय एवं विशिष्ट गुणों की एक झलक शक्र स्तव के पाठ में विवर्णित है—

शिव-मयल-मरूय-मणंत-मक्खय-मव्वाबाह।
मपुणराविति सिद्धिगइ नामधेयं ठाणं संपत्ताणं।
णमो जिणाणं जिय भयाणं।।

इसका तात्पर्य यह है कि—(1) **शिव**—वे स्वयं सब विघ्न-बाधाओं, उपद्रवों से मुक्त हैं तथा उनका स्वरूप ही 'शिव' अर्थात् परम कल्याणकारी है, सबके लिए मंगलकारी है। (2) **अचल**—वे स्वरूप में स्थिर होने से अचल हैं। (3) **अरुज**—वे पूर्ण निरामय, रोग-रहित हैं। (4) **अनंत**—उनकी ज्ञानादि शक्तियां अनंत हैं। वे जिस रूप में वर्तमान हैं, उस स्वरूप का कभी अंत नहीं आएगा। अनंत शब्द विराट सत्ता का सूचक है। (5) **अक्षय**—कभी क्षय नहीं होंगे। जो पूर्ण निरामय-निरोग, अनंत सुख आदि गुणों से युक्त हैं, उनके वे गुण कभी क्षीण नहीं होंगे। (6) **अव्याबाध**—न तो वे किसी के लिए बाधा बनते हैं, न ही उनके लिए कभी कोई बाधा होगी। अपितु समस्त विघ्न-बाधाओं का क्षय करने वाले होने से अव्याबाध हैं। (7) **अनुपराविति**—वे जिस मुक्ति-स्थान पर पहुंच गए हैं, वहां से कभी भी वापस लौटकर संसार में पुनः नहीं आएंगे ।

सिद्ध भगवंतों के उपरोक्त गुण उनके स्वरूप जन्य हैं। उनके स्मरण, चिंतन, स्तवन आदि से स्तोता भी इसी प्रकार की शक्ति और सामर्थ्य को प्राप्त हो सकता है तथा विघ्न-बाधाएं, रोग-शोक आदि का नाश होना भी संभव है।

सिद्ध (परमात्मा) होने से पूर्व—**चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा, सागरवर गंभीरा**—ये उनके लक्षण होते हैं और सिद्ध होते ही उनके ये गुण हो जाते हैं।

निष्काम स्तुति से स्तोता यह भावना पुष्ट करता है कि ये गुणत्रिक स्तुति एवं श्रद्धा के निमित्त से मुझे प्राप्त हों। पुनः पुनः जप, स्तुति अथवा भावना आदि करने पर शब्दों के पारस्परिक घर्षण के कारण वातावरण में एक विशेष प्रकार की विद्युत-तरंगें उत्पन्न होने लगती हैं तथा साधक की इच्छित भावनाओं को बल मिलने लगता है।

मंत्र में शब्द होते हैं और शब्दों के घर्षण में सूक्ष्म शक्ति होती है। स्थूल शरीर में कुछ भी शक्ति नहीं है, अपितु हमारे सूक्ष्म शरीर, आत्मा में अनेक प्रकार की शक्तियां विद्यमान हैं, जिनको मंत्र की सूक्ष्म शक्ति से जगा कर हम असाधारण कार्यों का भी संपादन कर सकते हैं।

अर्हतों को **'धम्मवर चाउरंत चक्कवट्टी'** कहा गया है। अर्हत् अंतर्जगत के चक्रवर्ती होते हैं। जिस प्रकार चक्रवर्ती की बाह्य संपदा अकूत होती है, उसी प्रकार अर्हतों की आंतरिक संपदा, आध्यात्मिक वैभव अकूत एवं अपार होते हैं। अतः आत्म शुद्धि हेतु कृत स्तुतियां जिनमें सांसारिक सुख या लिप्सापूर्ति की कामना नहीं रहती, केवल आत्मा को गुणों से पूर्ण करने की अभ्यर्थना रहती है और यही निष्काम स्तुति का परम लक्ष्य है। कबीरजी ने भी यही कहा है—

जब लग भक्ति सकामता, तब लग निर्फल सेव।
कहै कबीर बै क्यूं मिलै, निहकामी निज देव।।

अर्थात् भक्ति जब तक सकाम है, भगवान की सारी सेवा तब तक निष्फल ही है। निष्कामी देव से सकामी साधक की भेंट कैसे हो सकती है? कबीरजी का यह भी कहना है—

राजा राणा राव रंक, बड़ो जु सुमिरै राम।
कहै कबीर सबसे बड़ा, जो सुमिरै निहकाम।।[13]

अर्थात् मालिक के ध्यान में राजा, रंक का कोई हिसाब नहीं। जो कामना रहित राम का नाम लेता है, वही सबसे बड़ा है। वास्तव में स्तुत्य वे ही हैं—जो सर्वसमर्थ, सर्वव्यापक, लोकातीत, सर्वज्ञ, अमर और विषयातीत हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामचरितमानस में यथार्थ चित्रण किया है—

वारि मथे घृत होइ, बरू सिकता ते बरू तेल।
बिनु हरिभजन न भव तरिअ, यह सिद्धांत अपेल।।[14]

अर्थात् पानी को मथने से भले ही घी निकल जाए, बालू-मिट्टी को मथने से भले ही तेल निकल जाए, किंतु भगवत-स्तुति के बिना कल्याण नहीं हो सकता—यह अकाट्य सिद्धांत है।

स्तुति का माहात्म्य

हमारे भीतर जो सद्गुण विद्यमान हैं, आवश्यकता है उन्हें प्रदीप्त करने के लिए समुचित साधना की। जब घर्षण द्वारा लकड़ी या पत्थर से भी ज्योति पैदा हो सकती है, तो क्या साधना और भक्ति के घर्षण से हृदय में ज्ञान की ज्योति नहीं प्रज्वलित हो सकती? अवश्य हो सकती है।

सूर्य की किरणें मिलते ही, लंबी दूरी के बावजूद क्या सूर्यमुखी के फूल खिले बिना रह सकते हैं? क्या सूर्यकांतमणि के नीचे रखे वस्त्र या रुई में सूर्य की किरणें लगते ही आग प्रज्वलित नहीं हो उठती? ये दोनों तो सजातीय नहीं, परंतु आत्मा और परमात्मा तो सजातीय हैं। अतः आत्मा की परमात्मा से प्रीति सूरजमुखी पुष्पवत होनी चाहिए। जिस प्रकार सूरजमुखी पुष्प का मुख (ऊपर का भाग) सदैव सूर्य की ओर ही रहता है, चाहे सूर्य पूर्व दिशा में हो, चाहे पश्चिम दिशा में, चाहे किरणें तीव्र हो या मंद, चाहे वर्षाकाल हो या शीतकाल, फिर भी वे पुष्प दिग्भ्रम नहीं होते। वे सूर्य की किरणों से प्रगाढ़ प्रीति रखते हैं। जब विवेक व बुद्धिविहीन पुष्प सूर्य की किरणों से इतनी प्रीति निभाते हैं, तब भक्त-साधक, जो चिंतन-मनन की शक्ति से संपन्न है, बुद्धि का स्वामी है, उसे परमात्मा के प्रति कितनी प्रीति निभानी चाहिए? कितना समर्पित होना चाहिए? समझने की बात है।

निस्संदेह स्तुति आत्मा को परमात्मा से जोड़ने का एक महान सेतु है। ये स्तुतियां परमानंद प्राप्त कराने वाले अमोघ अस्त्र हैं। इनके मनन, स्वर गुंजन और लयबद्ध पुनरुच्चारण द्वारा ही शक्ति-केंद्रों का जागरण व ऊर्जा-केंद्रों का सर्जन होता है। अंतःकरण की शुद्धि और कषाय-कल्मषों के बंधन शिथिल पड़ते हैं। अतः स्तुति, वंदना, उपासना, आराधना आदि प्रसंगों में सामूहिक उच्चारण से वातावरण की पवित्रता के साथ भावों में भी उत्कृष्टता आती है और प्रेरणा भी मिलती है। इस दृष्टि से आत्म-साधना की प्रणाली को अनुपादेय करना उचित नहीं है।

यदि साधक अंतःकरण में परमात्मा का चिंतन करे, उसमें गहरा अवगाहन करे, आत्म कल्याण के लक्ष्य पर ध्यान केंद्रित रखे और सदाचार में किसी प्रकार की आंच न आने दे तो निश्चित ही उसका अंतःकरण दिव्यभावों से चमत्कृत हो उठेगा। कबीर की ये हृदयस्पर्शी पंक्तियां इसी तथ्य को स्पष्ट कर रही हैं—

देवल मांहे देहुरी, तिल जै है विस्तार।
मांहे पाती मांहे जल, मांहे पूजणहार।।

अर्थात् अंतरात्मा में ही मंदिर है, वहीं पर देवता है, वहीं पूजा की सामग्री है और पुजारी भी वहीं मौजूद है।

स्तुति-मंगल के परिणाम

भारतीय संस्कृति में केवल सुंदरता को नहीं, अपितु 'सत्यं शिवं सुंदरं' को महत्त्व दिया गया है। यदि अति सुंदर भवन का निर्माण किया जाए और वर्षाऋतु में उससे पानी टपकने लगे तो उस भवन की केवल सुंदरता किस काम की? यदि एक अत्यंत सुंदर बांध बना कर तैयार कर लिया जाए और बाद में उसमें से पानी बहने लगे, टिके नहीं तो क्या उसका सौंदर्य टिका रहेगा? कागज का पुष्प चमक, दमक व कमनीय कलेवर वाला होते हुए भी सौरभहीन होने से उसे कोई नहीं सूंघेगा। यही बात साधना के क्षेत्र में है। साधक के जीवन में संकल्प की सुंदरता, श्रद्धा रूपी सत्य और तन्मयता रूपी शिव का त्रिवेणी संगम अत्यंत अपेक्षित है। इस संगम के लिए स्तुति के अनेक परिणाम एवं सोपान हैं।[15]

प्रभु प्राप्ति के चार सोपान—(1) **प्रीतियोग** : प्रभु के प्रति अनन्य प्रेम का अभ्यास, (2) **भक्तियोग**: सर्वस्व समर्पण की भूमिका तक पहुंचना, (3) **वचन योग**: प्रभु आज्ञा को जीवन-प्रमाण समझ उसका पालन करना और (4) **असंगयोग** : उपर्युक्त तीनों योगों के क्रमिक और सतत अभ्यास से एक ऐसी आस्था जागती है, जिसमें आत्मा सर्व संग से निर्लेप बनकर अनुभव गम्य अपरिमेय आनंद पाने लगता है।

आचार्य हरिभद्र ने आराधना के पांच सोपान बताए हैं—(1) **प्रणिधान** : रोम-रोम में धर्माराधना की रुचि, (2) **प्रवृत्ति** : धर्माराधना में प्रवृत्ति करना, (3) **विघ्नजय**: बीच में आने वाले विघ्नों को जीतना, (4) **सिद्धि** : आराधना को जीवन में आत्मसात करना, (5) **विनियोग** : इस आराधना का दूसरों को दान देना। इसी तरह आवश्यकनिर्युक्ति में वंदना की निम्नोक्त छह निष्पत्तियां उपलब्ध हैं[16]—(1) विनय की आराधना, (2) अहं का नाश, (3) गुरुजनों की पूजा (भक्ति), (4) अर्हत् आज्ञा का पालन, (5) श्रुत धर्म की आराधना और (6) मोक्ष की प्राप्ति।

उत्तराध्ययन सूत्र में समागत वंदना के चार परिणाम[17] बताए गए हैं—(1) नीच गोत्र कर्म का क्षय और उच्च गोत्र कर्म का बंध, (2) सौभाग्य, लोकप्रियता, (3) अनुलंघनीय आज्ञा की प्राप्ति, (4) अनुकूल परिस्थिति। भगवान महावीर ने स्तव-स्तुति[18] के निम्न परिणामों की चर्चा की है—(1) **बोधि-लाभ**—ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप बोधिलाभ की प्राप्ति, (2) **अंतःक्रिया** (मुक्ति)—भव का अंत करने वाली क्रिया, (3) **स्वर्ग गमन**—कल्प विमान में उत्पत्ति।

इसी प्रकार ज्ञान बोधि के परिणाम[19] भी दृष्टव्य हैं। (1) पदार्थ बोध, (2) पारगामिता, (3) क्षय नहीं होने वाले विनय आदि गुणों की प्राप्ति, (4) प्रामाणिकता। दर्शन बोधि के परिणाम[20] निम्नानुसार हैं—(1) मिथ्यात्व का क्षय, (2) सतत प्रकाश, (3) ज्ञान और दर्शन की निरंतर वृद्धि।

चारित्र बोध के परिणाम[21] इस प्रकार हैं—(1) अकंपदशा की प्राप्ति, (2) जन्म-मरण के कर्मों का क्षय और (3) मुक्ति।

आचार्य मानतुंग ने स्तवन[22] से होने वाले प्रमुख चार लाभों का उल्लेख किया है—(1) समस्त दोषों का क्षय, (2) मिथ्या दृष्टिकोण का क्षय, (3) अनाचार की समाप्ति, चारित्र का लाभ और (4) दुर्लभ बोधि का सुलभ बोधि में परिवर्तन।

निष्कर्ष

व्यावहारिक जगत में हम देखते हैं 'टेलीविजन' के 'ऐंटीना' की जितनी क्षमता है, वह उसी सीमा के अंदर की तरंगों को पकड़ कर हमें दिखा सकता है। क्षमता (रेंज) के बाहर की तरंगों को नहीं पकड़ा जा सकता। ठीक इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी परमात्मा की अनंत ज्ञान-दर्शन रूपी

आभा को पूर्ण रूप से नहीं आंका जा सकता। साधक उसको अपनी साधना की क्षमता व गहराई के अनुसार ही जान सकता है। इसी तथ्य की पुष्टि विभिन्न आत्मज्ञानियों की वाणी में परिलक्षित होती है। भगवान श्रीराम के गुरु वसिष्ठजी कहते हैं—'आत्मवेत्ताओं का पूर्ण विवरण नहीं किया जा सकता।' राजा जनक को अष्टावक्र महाराज ने कहा—**'तस्य तुलना केन जायते?**—उस आत्मज्ञानी महापुरुष की तुलना किससे की जा सकती है?' वैदिक परंपरा में भी श्रीकृष्ण ने गीता में कहा—**'यद् गत्वा न निर्वन्ते तद् धाम परमं मम्'**—अर्थात् 'जहां जाकर फिर संसार में पीछे नहीं लौटना पड़े वही मेरा परमधाम है।' आचारांग सूत्र में सिद्ध भगवंतों का स्वरूप बताते हुए निम्न प्रकार से कथन किया गया है—

अच्चेइजाइमरणस्स वट्टमग्गं णिक्खायरए

सिद्ध आत्मा जन्म-मरण के मार्ग को पार कर जाते हैं। उनके स्वरूप का कथन करने में कोई शब्द समर्थ नहीं होता। जहां पर तर्क और बुद्धि की पहुंच नहीं हो सकती और बुद्धि से भी जहां अवगाहन नहीं होता। नानकदेव ने कहा है—उपासना और तप की नौका के सहारे भगवान का भजन करते हुए मनुष्य पाप की नदी के पार उतर जाता है।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि मन में भक्ति, वचन में स्तुति और तन में विनम्रता अर्थात् प्रसन्न भाव से करबद्ध हो शीश झुका कर स्तुति करने से स्तोत्र पाठ वागुच्चार मात्र न रह कर भक्ति-सागर की भवार्मियों को ऊंचाइयां प्रदान करने वाला सिद्ध होता है। क्योंकि हृदय-भक्ति की अभिव्यंजना का नाम ही है—स्तोत्र। इस प्रकार स्तव-स्तुति से श्रद्धा को बल मिलता है। सम्यक् श्रद्धा से भावधारा निर्मल होती है। निर्मल भावधारा से जैसे-जैसे कर्मावरण दूर होता है, वैसे-वैसे ज्ञान बोधि, दर्शन बोधि और चारित्र बोधि की निर्मलता बढ़ती जाती है। जब ये बोधियां चरम सीमा पर पहुंच जाती हैं तब केवलज्ञान, केवलदर्शन और क्षायिक-चारित्र प्रकट होता है। इस प्रकार आत्मा में केवलज्ञान बोधि, केवलदर्शन बोधि और संपूर्ण चारित्ररूप बोधि प्रकट होती है। ऐसे केवली आत्माएं अंत:क्रिया करके मोक्ष स्वरूप को प्राप्त करती हैं। अतएव स्तुति, महापुरुषों का नामस्मरण आत्मा से परमात्मा बनाने का महापथ है, राजमार्ग है। यह जीवन को सुंदर और सफल बनाने का प्रबल साधन है। आचार्य सोमचंद्र के शब्दों में[23]—

पापं लुम्पति दुर्गतिं दलपति व्यापादयत्यापदं,
पुण्यं संचिनुते श्रियं वितनुते पुष्णाति निरोगताम्।
सौभाग्यं विदधाति, पल्लवयति प्रीतिं प्रसूते यश:,
स्वर्ग यच्छति निर्वृतिं च स्वयत्यर्चातां निर्मिता।।

अर्हतों को की जाने वाली अर्चा (भाव पूजा, गुणोत्कीर्तन, पर्युपासना आदि) पापों का नाश करती है, दुर्गति का निवारण करती है, आपदाओं को विनष्ट करती है, पुण्य का संचय करती है, लक्ष्मी का विस्तार करती है, निरोगता को पुष्ट करती है, सौभाग्य को बनाए रखती है, प्रीति को पल्लवित करती है, यश को उत्पन्न करती है, स्वर्ग को देती है और मोक्ष रचना करती है। ❖

संदर्भ :

1. श्रीमद्भागवत् की स्तुतियों का समीक्षात्मक् अध्ययन पृ./263
2. उत्तराध्ययन, 29/15
3. सूत्रकृतांग, प्रथम श्रुत स्कंध अध्ययन/6
4. नंदी, प्रकरण 1,1.3, समवायांग
5. आवश्यक, 6/11
6. आवश्यक, 2/1
7. नंदी, प्रकरण 1, 4-17, 22
8. पाणिनी अष्टाध्यायी, 3.3 94
9. अमरकोश, 1.6.11
10. विष्णु सहस्रनाम, श्लोक 4.5 पर शंकर भाष्य

(8–10: श्रीमद्भागवत् की स्तुतियों का समीक्षात्मक अध्ययन पृ. : 1, 2 से उद्धृत)

11. महाप्रज्ञ का रचना संसार, पृ./384
12. अप्पाणं शरणं गच्छामि, पृ./104
13. साखी ग्रंथ, 13/86, पृ./182
14. रामचरित्र मानस, 6/122 (क)
15. मिले मन भीतर भगवान
16. आवश्यक निर्युक्ति, 1215
17. उत्तराध्ययन, 29/11
18. से 21; उत्तराध्ययन, 29/15, 60, 61, 62
22. भक्तामर, श्लोक/9
23. सिंदूर प्रकर, जिन पूजा प्रकरणम्, श्लोक/9 ❖❖

पर्यावरण संकट : इच्छाओं की अनंतता, आवेग, आवेश

❁ समणी डॉ. सत्यप्रज्ञा ❁

करुणा का मूल स्रोत आत्मवाद है। हम सब समान हैं। सब आत्माएं समान हैं। सुख-दुख की अनुभूति सबको समान रूप से होती है। आत्मतुल्यता का यह सिद्धांत किसी को स्वीकृति नहीं देता कि वह किसी दूसरे को कष्ट दे। यह सृष्टि सदैव संपोषण एवं संतुलन चाहती है। षड्जीवनिकाय के रूप में व्यापक चेतना के विस्तार को स्वीकार करना उन्हें स्वतः-मूल्य के रूप में स्वीकार करना है। अहिंसा से इनके अस्तित्व को अभिव्यक्ति के स्तर पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है, पर इसके मूल में अपरिग्रह की चेतना चाहिए। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है—जहां अपरिग्रह है, वहां संतुलन है और जहां संतुलन है, वहां स्वस्थता है। जहां स्वस्थता है, वहां विकास है। जहां विकास है, वहां जीवन का उन्नत स्तर है। जहां उन्नत जीवन-स्तर है, वहां प्रकृति का हर तत्त्व स्वतः मूल्यवत्ता का विस्तृत निदर्शन है। शांति के लिए व्यवस्था, व्यवस्था के लिए सह-अस्तित्व, सह-अस्तित्व के लिए समन्वय, समन्वय के लिए सत्य, सत्य के लिए अभय, अभय के लिए अहिंसा, अहिंसा के लिए अपरिग्रह एवं अपरिग्रह के लिए संयम चाहिए।

आज के जगत की सर्वाधिक शीर्ष समस्या है—पर्यावरण-प्रदूषण। हर व्यक्ति चाहे-अनचाहे प्रदूषित वातावरण में श्वास लेने को विवश है। विकास के नाम पर उसने जिस राह को स्वीकार कर लिया है, उसमें प्राकृतिक संसाधनों का लगातार दोहन होता जा रहा है और यह अनमोल जीवन विनाश की ओर धकेला जा रहा है।

वैज्ञानिकों का मानना है कि इस पृथ्वी का अस्तित्व चार सौ ग्यारह करोड़ वर्षों के आस-पास का है। यहां पर जीवन भी दस लाख वर्षों से है। जिस सभ्यता में हम रह रहे हैं—वह भी हजारों वर्षों से है। पर, विकास के वर्तमान दौर ने हमें यह सोचने को मजबूर कर दिया है कि हमारा भविष्य कैसा होगा? कारखानों से निकलने वाले तेल, रसायन, धुआं, गैस, एसिड आदि से प्रदूषण फैल रहा है—यह नई बात नहीं है। ताजमहल काला हो रहा है—यह सूचना भी नई नहीं है। महानगरों में प्रतिदिन हजारों टन कचरे का ढेर लग रहा है। दूषित गैसों से छिद्रित होती ओजोन की छतरी और धरती का बदलता तापमान किस तरह के भविष्य को आमंत्रित कर रहा है? इसका अंदाज लगाना सहज है।

❦ संदर्भ ❦
जैन दर्शन और पर्यावरण
❑ 5 जून : विश्व पर्यावरण दिवस ❑

विज्ञान ने सतत विकास प्रक्रिया को स्वीकार किया है। पौधों के अस्तित्व के बाद जंतु विकास से होते हुए मानव के अस्तित्व तक विकास की परंपरा इस पृथ्वी पर पहुंची है और विकास की इस प्रक्रिया से

गुजरते हुए आज मानव समाज अत्यधिक उपभोक्तावादी संस्कृति तक पहुंच चुका है। यहां भी यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि विकास का अगला पड़ाव क्या होगा?

क्या विकास का अगला पड़ाव आंतरिक जगत के स्तर पर संभव है? बाह्य प्रगति एवं विकास की वर्तमान प्रक्रिया से भूमि, जल, वायु, वनस्पति आदि के संकट खड़े हो गए हैं। इन संकटों से निबटने के लिए अब यह आवश्यक लगता है कि मनुष्य की सोच में संयम, नैतिकता, समानुभूति की दिशा में गतिशीलता आए। समय व स्थितियों की बाध्यता भी उसे इस दिशा में सोच व पहल करने के लिए विवश कर रही है। सहज संबुद्ध विवेक जागरण से यदि वह इस दिशा में प्रस्थान कर देता है, तो वह उसके लिए गौरव का एक अभिलेख होगा। श्रमण भगवान महावीर ने इसी सोच की ओर संकेत किया है—

जे लोयं अब्भाइक्खइ से अत्ताण अब्भाइक्खइ।
जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ।।[1]

जो लोक के अस्तित्व को अस्वीकार करता है, वह अपनी आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करता है। जो अपनी आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करता है, वह लोक के अस्तित्व को भी अस्वीकार करता है।

भगवान महावीर की दृष्टि में लोक का व्यापक स्वरूप सबसे सूक्ष्मतम जीवन के अस्तित्व से शुरू होता है। उनका मौलिक मत षड्जीवनिकाय है। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति—ये सूक्ष्मतम जीव हैं। चूंकि इनकी चेतना का विकास अल्पतम है, इसीलिए इनकी ओर ध्यान देना अधिक अपेक्षित है। जैन दर्शन की भाषा में इन्हें स्थावर जीव कहा जाता है। ये अपनी इच्छा से गति नहीं कर सकते। इनसे स्थूल जीव—जिन्हें 'त्रस' कहा जाता है—अपने सुख-दुख की प्रवृत्ति-निवृत्ति हेतु गमन करने में समर्थ हैं। अपनी सुरक्षा की संज्ञा व सामर्थ्य भी उनमें है। वे उसका उपयोग भी कर सकते हैं। लेकिन, सूक्ष्मतम जीवों के संदर्भ में ऐसा नहीं है। भगवान महावीर ने आचारांग में सबसे पहले इन्हीं के प्रति संवेदनशीलता को उजागर करते हुए कहा—जो पृथ्वी आदि की हिंसा में व्याप्त होता है, वह केवल उन जीवों की ही हिंसा नहीं करता, अपितु नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है। करने-कराने या अनुमोदन से जुड़ी वह हिंसा उसके अहित के लिए होती है, अबोधि के लिए होती है।[2] इसी अहित और अबोधि का निदर्शन आज पर्यावरणविद एवं वैज्ञानिक बार-बार दे रहे हैं। आज के व आने वाले कल के संकट के प्रति जागरूक करते हुए उनकी चेतावनी के साथ समाधान की ओर ध्यान देना भी अपेक्षित है।

उपभोक्तावादी मनोवृत्ति या भोग-प्रधान जीवन-शैली, सुविधावादी दृष्टिकोण, अहंकार एवं स्वार्थ-प्रधान चेतना, लालसा या इच्छाओं की अनंतता, भीतर के आवेग और आवेश तथा असंयम को पर्यावरण संकट की जड़ के रूप में देखा जा सकता है। इच्छा, हिंसा और परिग्रह—इन तीनों के बीच पारस्परिक संबंध है। पर्यावरण को शुद्ध बनाए रखने के लिए इनके अल्पीकरण की ओर ध्यान दिया जाना अपेक्षित है। प्राकृतिक दृष्टि के अनुसार प्रकृति में प्रत्येक परिवर्तन का कुछ उद्देश्य होता है, लेकिन मनुष्य ने केवल अपने उद्देश्य की ओर ही ध्यान दिया है। फलतः लोभ, संग्रह, अहं आदि प्रेरणाओं से प्रेरित हो परिग्रह का लक्ष्य ही उसके सामने रहा है। परिग्रह के साथ क्रूरता भी बढ़ती जाती है और उसी के परिणामस्वरूप भूमि की समस्या, जल की समस्या, वायुमंडल की समस्या, ध्वनि प्रदूषण की समस्या, वनीय पर्यावरण की समस्या, ऊर्जा संकट, स्वास्थ्य की समस्याएं उत्पन्न हुई हैं।

भूमि का प्रदूषण

भूमि के प्रति मानव का अविवेकपूर्ण व्यवहार ही भू-प्रदूषण है। आज खनिज पदार्थों के लिए पृथ्वी का जबरदस्त दोहन किया जा रहा है। भू-वैज्ञानिकों को आशंका है कि यदि इसी प्रकार खनिज पदार्थों का उपयोग होता रहा, तो कुछ ही वर्षों में उसके भंडार निःशेष हो जाएंगे। आज का मानव भूमि के साथ एक जीवित इकाई की तरह व्यवहार करने की आवश्यकता नहीं समझ रहा है। जैन दर्शन की भाषा में भूमि के साथ होने वाला व्यवहार पृथ्वीकाय के साथ होने वाला व्यवहार है। भगवान महावीर ने कहा—जो पृथ्वी संबंधी हिंसा-कार्य को जान लेता है, वह उस हिंसा से निवृत्त होने की दिशा में भी आगे बढ़ सकता है।[3]

जल का प्रदूषण

प्रत्येक वस्तु जल से ही उद्भूत है, जल से ही

प्रतिपादित है। वर्तमान पारिस्थितिकी ज्ञान के प्रकाश में यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि समस्त स्थलीय व जलीय परिस्थितियों में जीवों का उद्‌भव, संरचना तथा उनके परिचालन के लिए जल अनिवार्य है।[4] जैन दर्शन के अनुसार जल अप्कायिक जीव है। इसके आश्रय में वनस्पति एवं त्रसकाय के द्वींद्रिय आदि जीव पलते हैं। तीव्र औद्योगिकीकरण, जलस्रोतों के दुरुपयोग, वर्षा की कमी आदि मानवकृत एवं प्राकृतिक कारणों से जल प्रदूषण की समस्या ने विकराल रूप धारण कर लिया है। जल प्रदूषण से अप्काय की हिंसा तो होती ही है, इसका प्रदूषण मनुष्य को भी प्रभावित करता है। वैज्ञानिकों के अनुसार भारत में उपलब्ध जल का लगभग सत्तर प्रतिशत भाग प्रदूषित है। इसमें घरेलू अपशिष्ट (Domestic Effluent), मल-जल (Sewage), औद्योगिक अपशिष्ट (Industrial Effluent), कृषि अपशिष्ट (Agricultural Effluent), ऊष्णीय या तापीय प्रदूषण (Thermal Pollution), तेल प्रदूषण (Oil Pollution), 'रेडियो एक्टिव' अपशिष्ट तथा अवपात (Redioactive Wastes and Fallouts) आदि प्रमुख कारण हैं।[5] एक ओर इनसे प्राणवायु के उत्पादन का संतुलन बिगड़ने की आशंका रहती है, वहीं दूसरी ओर जीवों में निहित विषाणु भिन्न-भिन्न रूपों में मनुष्य तक पहुंच सकते हैं। इसीलिए इस जलकायिक जीवन के संदर्भ में संयम की चेतना अनिवार्य है।

अग्नि, वायु एवं वनस्पति प्रदूषण

वायु में उपस्थित 'ऑक्सीजन' पर ही जीवधारियों का जीवन निर्भर है। वर्तमान में औद्योगिक चिमनियों से निकलता धुआं एवं धूलकण, मोटरगाड़ियों से निकलता धुआं, घरेलू ईंधन के जलने से उत्पन्न हुआ धुआं एवं विभिन्न मानवीय गतिविधियों से उड़ने वाली धूल आदि हमारे आस-पास की वायु को निरंतर दूषित करती है। फलतः वायुमंडलीय 'ऑक्सीजन' की मात्रा घटती जा रही है। आज संपूर्ण पृथ्वी पर वैज्ञानिकों ने ऐसे बीस स्थानों का पता लगाया है, जहां तापमान बढ़ने से संपूर्ण जीव-जगत संकट में है। उन्हें 'ग्लोबल वार्मिंग' के ज्वलंत क्षेत्र कहा जाता है। विभिन्न कारणों से वायुमंडल में 'ग्रीन हाउस' गैसों की मात्रा बढ़ गई है। ये गैसें सूर्य की ऊष्मा के एक बड़े हिस्से को वायुमंडल में ही रोक लेती हैं। इससे पृथ्वी का तापीय संतुलन बिगड़ गया है।

ओजोन को नष्ट करने वाली दो प्रमुख चीजें हैं—नाइट्रिकऑक्साइड तथा क्लोरिनऑक्साइड। अधिक ऊंचाई पर उड़ने वाले 'सुपरसोनिक जैट' विमान नाइट्रिकऑक्साइड पैदा करते हैं। यह 'ओजोन' के लिए खतरा हैं। इससे भी ज्यादा खतरा है—क्लोरिनऑक्साइड से। इसका निर्माण फ्लुओरोकार्बन रसायन से होता है। यह प्राकृतिक रसायन नहीं, मानव निर्मित रसायन है। अनेक उद्योगों में इसका व्यापक उपयोग होता है। रेफ्रिजिरेटर आदि में इसका उपयोग होता है। यह रसायन वायुमंडल में पहुंच कर हवा से अन्य अणुओं के साथ मिल कर वायु में फैल जाता है। ये पचास से सौ वर्ष तक नष्ट नहीं होते और धीरे-धीरे ऊपर समतापमंडल 'ओजोन' तक पहुंच जाते हैं। वहां पराबैंगनी किरणों के प्रभाव से इसके बंधन टूट जाते हैं। वैज्ञानिक गणनानुसार 'क्लोरिन' का प्रत्येक परमाणु 'ओजोन' के एक लाख अणुओं को नष्ट करता है। इस तरह औद्योगिकीकरण से समूची पृथ्वी पर भयंकर प्रदूषण फैल रहा है।[6] वनों की कटाई, ईंधन एवं ऊर्जा का भरपूर उपयोग औद्योगिकीकरण के फलस्वरूप है और वायुप्रदूषण इसी का परिणाम है।

सीमाकरण की साधना

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। जहां भी दो हैं, समाज है। वहां नैतिकता की बात शुरू हो जाती है, तो आर्थिक और भौतिक विषमता से भी इनकार नहीं किया जा सकता है। जैन दर्शन में व्रती समाज के अभ्युदय की अवधारणा रही है। अपरिग्रह की चेतना का जागरण, भोग-उपभोग की दिशा में सीमाकरण, अनर्थदंड विरति, पंद्रह कर्मादान वर्जन आदि की साधना संयम-चेतना के जागरण की साधना है।

मनुष्य की मनोवृत्ति से भगवान महावीर परिचित थे। उन्होंने जान लिया था कि मनुष्य का मन कभी न भरने वाली एक छलनी है। परिग्रह की सीमा व विसर्जन की प्रेरणा का एक सूत्र प्रदान करते हुए उन्होंने कहा—**वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते**[7]—धन से कभी त्राण नहीं मिल सकता। अतः अर्जन एवं उपयोग के संदर्भ में विशेष चिंतन होना चाहिए। ऐसे संसाधनों का उपयोग न करें, जिनसे

प्राणियों का उत्पीड़न हो। अनैतिक संसाधनों से अपरिमित धन का संग्रह करने वाला अर्थव्यवस्था को भी अस्त-व्यस्त करता है और सामाजिक वर्जना का अभियुक्त भी होता है। दूसरी ओर इच्छा परिमाण के आधार पर संपूर्ण विश्व को 'सुखद विश्व' बनाया जा सकता है।

संयम की अनिवार्यता

इच्छाएं असीम हैं। संसाधनों की सीमा है। इसलिए संयम का सिद्धांत उपयोगी ही नहीं, अनिवार्यतया जरूरी हो गया है। हम पर्यावरण की सुरक्षा या सम्मान क्यों करें? इस प्रश्न को दो दृष्टियों से देखा जा सकता है—(1) अच्छा पर्यावरण मनुष्य जाति के लिए अपेक्षित है, इसलिए पर्यावरण संरक्षण पर ध्यान दिया जाए। (2) पर्यावरण व प्रकृति के हर अंग का अपना मूल्य है, इसलिए इसका संरक्षण हो। प्रथम में प्रकृति को एक साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। दूसरे में प्रकृति स्वयं अपने आप में साध्य है।

प्रकृति एवं पर्यावरण के प्रति साधन-परक दृष्टिकोण ने समस्याएं पैदा की हैं। साधनपरक दृष्टिकोण मनुष्य को सर्वोपरि स्वीकार करता है।

महावीर कहते हैं—दुर्व्यवहार का अभाव ही व्यवहार व्यक्तित्व का दर्पण है। आचारांग सूत्र में इस ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा गया—**जस्स णत्थि इमा णाई, अण्णा तस्स कओ सिया?**[8]—अर्थात् कभी किसी को नहीं सताना, इतना भी जो जान न पाया/तो क्या और खाक जानेगा, क्यों कोरा ज्ञानी कहलाया?/किसने पर-पीड़ा पहचानी आयारो की अर्हत् वाणी।[9]

यह भी कहा गया है—**सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं**[10]—सभी प्राणी जीना चाहते हैं, सभी को सुख प्रिय हैं, दुख अप्रिय हैं। पृथ्वी आदि अपने दुख, प्रतिकार में असमर्थ हैं, लेकिन जैसे बच्चे को या मूर्च्छित को वेदना का अनुभव होता है—वैसे ही सूक्ष्मतम चेतना की अभिव्यक्ति वाले जीवों को भी वेदन होता है। इसलिए इनको कष्ट हो, ऐसा कार्य न करो। **सव्वभूयप्प भूयस्स, सम्मं भूयाइ पासओ**[11]—जो सभी प्राणियों को अपने समान देखता है, वह पाप-कर्म का बंध नहीं करता। **पुढो सिया**[12]—अर्थात् सबका स्वतंत्र अस्तित्व है। अस्तित्व के स्वीकार के साथ अहिंसक चेतना की चिंतन यात्रा चलती है—**इच्चेसिं छण्हं जीवनिकायाणं नेव सयं दंडं समारम्भेज्जा नेवन्नेहिं दंडं समारम्भेज्जा दंडं समारम्भंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा।**[13] छहों ही जीवनिकाय के प्रति न स्वयं किसी भी तरह का हिंसाकारी कार्य करें, न किसी से करवाएं और न ही किसी करते हुए का अनुमोदन करें। इर्यापथिक सूत्र में किसी भी जीव के संदर्भ में अहस्तक्षेप की सूक्ष्म मीमांसा यहां तक की गई कि—**अभिहया, वत्तिया, लेसिया, संघाइया, संघट्टिया, परियाविया, किलामिया, उद्दविया, ठाणओ ठाणं संकामिया, जीवियाओ ववरोविया तस्स मिच्छा मि दुक्कड़म।**[14]—अर्थात् किसी भी जीव की विराधना, इन रूपों में प्रमादतः की हो, जैसे—उनकी दिशा बदली हो, चोट पहुंचाई हो, गंभीर रूप से घायल किया हो, हिलाया-डुलाया हो, परितप्त किया हो, सताया हो, क्लांत किया हो, कष्ट दिया हो, उत्पीड़ित किया हो, स्थानांतरण किया हो, मार डाला हो—तो वह मेरा दुष्कृत है। मेरे द्वारा उस तरह का प्रमाद, दुष्कृत फिर न हो। अतीत का प्रतिक्रमण, वर्तमान की जागरूकता व भविष्यकालीन संकल्प के साथ ऐसे दुष्कृत से मुक्त होने की भावना की जाती है।

आपसी संबंधों में निष्ठा का प्रबल परिपोषक सूत्र है—**परस्परोपग्रहो जीवानाम्।**[15] अपने अस्तित्व की सुरक्षा सबके अस्तित्व की सुरक्षा के साथ ही जुड़ी हुई है। अस्तित्व का यह अनुसंधान समग्रता की सोच है।

प्रतिदान के न्याय का उद्घोषक सूत्र है—**जं हंतव्वं ति मन्नसि।** इसी तथ्य को प्रस्तुत करते हुए आचार्यश्री तुलसी ने कहा—

पुरुष! जिसे हंतव्य मानता—वह तू ही है, केवल तू ही।
वध्य नहीं है—कोई भी प्राणी इस जग का, यही अहिंसा धर्म नित्य है, शाश्वत ध्रुव है।[16]

यह माना गया है कि प्रकृति में स्वतः संतुलन है। हम उसमें व्यवधान न पैदा करें।

करुणा का मूल स्रोत आत्मवाद है। हम सब समान हैं। सब आत्माएं समान हैं। सुख-दुख की अनुभूति सबको समान रूप से होती है। आत्मतुल्यता का यह सिद्धांत किसी को स्वीकृति नहीं देता कि वह किसी दूसरे को कष्ट दे। यह सृष्टि सदैव संपोषण एवं संतुलन चाहती है। षड्जीवनिकाय के रूप में व्यापक चेतना के विस्तार को स्वीकार करना उन्हें

शेष पृष्ठ 31 पर

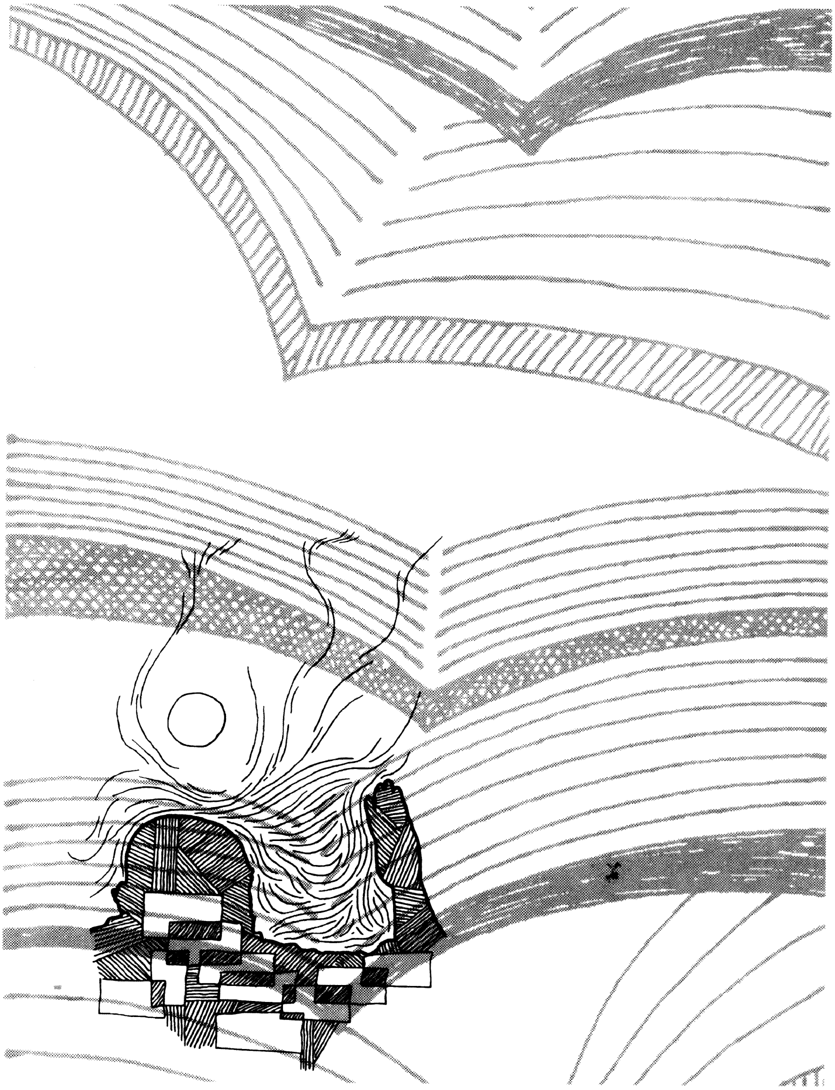

अनुभूति

मेरी रक्षा करें सचेतन उगती हुई उषाएं,
और उमड़ती हुई निरंतर प्रवहमान सरिताएं।
पितर प्रार्थना करें देवों से मेरे लिए निरंतर,
रक्षक हों ध्रुव-अचल पर्वतों की उत्तुंग शिखाएं।

—बशीर अहमद 'मयूख'

ऋक्वेद 6/52

ज्ञान की आराधना : हृदय-परिवर्तन का सबल आधार

आचार्यश्री महाश्रमण

जब आदमी ज्ञान-संपन्न बन जाता है तो अहंकार-मुक्त भी वह स्वाभाविक रूप से हो ही जाता है। हमारे जीवन में चार कषाय हैं। इन चार कषायों में एक कषाय है—मान। मान आदमी की एक वृत्ति है। जब कुछ प्राप्त हो जाता है, तब आदमी को अहंकार आ जाना स्वाभाविक है। यह आदमी की दुर्बलता है कि वह थोड़ा प्राप्त करके भी अहंकार करने लगता है, पर जिसने सब कुछ प्राप्त कर लिया, वह कभी अहंकार नहीं करता। अहंकार के अनेक निमित्त हैं। आदमी उच्च-जाति का अहंकार भी कर सकता है। इसी तरह मेरे पास बहुत ज्ञान है—इसका भी अहंकार हो सकता है। उच्च-कुल का भी अहंकार हो सकता है।

जीवन में ज्ञान का बड़ा महत्त्व है। ज्ञान सर्वाधिक पवित्र है। श्रीमद्भगवत्गीता में कहा गया—'**न हि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते।**—ज्ञान के समान दुनिया में कोई पवित्र चीज नहीं है।' जिसमें श्रद्धा होती है, ज्ञान के प्रति रुचि होती है, वह व्यक्ति ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। ज्ञान को प्राप्त करके आदमी परम-शांति को प्राप्त कर लेता है। इसलिए जीवन में ज्ञान की प्राप्ति हो—यह प्रयास करना चाहिए। सूत्रकार ने एक सुंदर उदाहरण दिया है कि ज्ञान-युक्त आदमी नष्ट नहीं होता। जैसे—एक सूई धागे से युक्त है और वह यदि गिर जाए तो उसे खोजना मुश्किल नहीं होता है। इसी तरह ज्ञान-युक्त आदमी नष्ट नहीं होता, ज्यादा भटकता नहीं है। ज्ञान का धागा पकड़ में रहना चाहिए। ज्ञान का धागा टूटे नहीं और आदमी ज्ञान-युक्त रहे। आध्यात्मिक संदर्भो में देखें तो ज्ञान का बड़ा मूल्य है। ज्ञान का अभ्यास करने से पदार्थों को जान लिया जाता है।

इसी संदर्भ में प्रश्न किया गया—'**नाणसंपन्नयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?**—भंते! ज्ञान-संपन्नता (श्रुतज्ञान की संपन्नता) से जीव क्या प्राप्त करता है?' उत्तर दिया गया—'**नाणसंपन्नयाए णं जीवे सव्वभावाहिगमं जणयइ। नाणसंपन्नेणं जीवे चाउरंते संसारकंतारे न विणस्सइ। जहां सूई ससुत्ता, पडिया वि न विणस्सइ। तहा जीवे ससुत्ते, संसारे न विणस्सइ।। नाणविणयतवचरितजोगे संपाउणइ, ससमय परसमयसंघायणिज्जे भवइ**—ज्ञान-संपन्नता से वह सब पदार्थों को जान लेता है। ज्ञान-संपन्न जीव चार गति-रूप, चार अंतों वाली संसार अटवी में विनष्ट नहीं होता। जिस प्रकार धागे में पिरोई हुई सूई गिरने पर भी गुम नहीं होती, उसी प्रकार श्रुत सहित जीव संसार में रहने पर भी विनष्ट नहीं होता। ज्ञान-संपन्न व्यक्ति अवधि-ज्ञान आदि विशिष्ट ज्ञान, विनय, तप और चारित्र के योगों को प्राप्त करता है तथा स्वसमय और परसमय की व्याख्या या तुलना के लिए प्रामाणिक पुरुष माना जाता है।'

जैन दर्शन में पांच ज्ञान बताए गए हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान। अंतिम तीन ज्ञान अतींद्रिय ज्ञान हैं। प्रथम दो ज्ञान इंद्रिय सापेक्ष ज्ञान हैं। केवलज्ञान सबसे बड़ा ज्ञान है। इसके बाद कोई ज्ञान अवशेष नहीं रहता। उदाहरणार्थ—एक चौकी है। वह धूल के नीचे ढकी हुई है। थोड़ी-सी रेत दूर हुई, चौकी का एक सिरा दिखने लग गया। फिर थोड़ी धूल दूर हुई,

दूसरा सिरा दिखने लग गया। अगले सिरे की धूल दूर हुई, तीसरा सिरा दिखने लग गया। इस तरह चौथे सिरे की धूल दूर हुई, तो चौथा सिरा भी दिखने लग गया।

आत्मा में ज्ञान अनंत है और जितना-जितना आवरण हटता है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान होता जाता है। सारी धूल दूर हो जाने पर पूरी एक चौकी दिखाई देने लगती है। जिस प्रकार चौकी के पूर्णतया अनावृत होने से पूरी चौकी नजर आने लगती है, हमारा ज्ञान भी इसी प्रकार है। थोड़ा-थोड़ा ज्ञान अनावृत होने लगता है और मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि प्रकट हो जाते हैं। केवलज्ञान होने का मतलब है, ज्ञान का पूर्णतया अनावृत हो जाना, सर्वज्ञानी हो जाना। केवलज्ञानी का एक नाम सर्वज्ञ भी है, सबको जानने वाला।

हमारा लक्ष्य यह रहे कि हम सर्वज्ञ बनें, केवलज्ञानी बनें। सबके लिए वह संभव नहीं है। पर, हमारा श्रुतज्ञान यथासंभव विशिष्ट बने—यह लक्ष्य तो रहना ही चाहिए। श्रुतज्ञान से भी बहुत कुछ जाना जा सकता है।

सभी चीजें ज्ञातव्य हैं, फिर भी अध्यात्म विद्या को भली प्रकार से समझने का प्रयास होना ही चाहिए। वैसे सभी प्रकार की विद्याओं को जानना चाहिए। जीवन का पूर्व भाग—यानी 25 वर्ष का जो कालमान है—उसमें खूब ज्ञान अर्जन करना चाहिए। हमारी परंपरा में चार प्रकार के आश्रमों का वर्णन मिलता है—ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम और संन्यास आश्रम। पहला ब्रह्मचर्य आश्रम है। ब्रह्मचारी रहते हुए आदमी ज्ञान का अर्जन करे। हम व्यवहार में भी देखते हैं कि 25 वर्ष की अवस्था में जो विद्यार्थी ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, तो उनके जीवन का एक मजबूत आधार बन जाता है। ज्ञान-संपन्नता के द्वारा आदमी विनष्ट नहीं होता। ज्ञान का काम है, किसी को नष्ट होने से बचाना। कोई गिर भी जाए तो आसानी से उसे उठाया जा सकता है। ज्ञान के द्वारा आसानी से अपना उद्धार भी किया जा सकता है। ज्ञान के द्वारा विनय का विकास भी होता है। विनय आने से आदमी योग्य बन जाता है और योग्य आदमी अनेक क्षेत्रों में विशिष्टता को प्राप्त कर सकता है। वह धन को भी प्राप्त कर सकता है, धर्म को भी प्राप्त कर सकता है और सुख-शांति को भी प्राप्त कर सकता है। ज्ञानी आदमी चारित्र की भी आराधना कर लेता है। ज्ञान सम्यक् है, तो सम्यक् चारित्र की भी आराधना हो सकती है। एक और सुंदर बात बताई गई है कि ज्ञानी आदमी प्रामाणिक भी बन जाते हैं। यह माना जाता है कि अमुक आदमी विद्वान है, बहुश्रुत है—उसके पास ज्ञान की कोई बात मिल सकेगी, जिज्ञासाओं का समाधान मिल सकेगा। ज्ञानी आदमी तुलनात्मक अध्ययन करके एक प्रामाणिक पुरुष के रूप में भी प्रख्यात हो जाता है।

शास्त्रकार ने ठीक कहा—जीवन में ज्ञान-संपन्नता आ जाती है, तो वह व्यक्ति विनयपूर्वक आगे बढ़ता है। चारित्र की आराधना के साथ सब पदार्थों को जानने वाला बन जाता है। इसी के साथ-साथ स्वसमय (अपने दर्शन के बारे में) और परसमय (दूसरों के दर्शन के बारे में) में प्रामाणिक व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। इसलिए जीवन में ज्ञान की आराधना करनी चाहिए। आदमी को ज्ञान-संपन्न बनने का प्रयास करना चाहिए।

जब आदमी ज्ञान-संपन्न बन जाता है तो अहंकार-मुक्त भी वह स्वाभाविक रूप से हो ही जाता है। हमारे जीवन में चार कषाय हैं। इन चार कषायों में एक कषाय है—मान। मान आदमी की एक वृत्ति है। जब कुछ प्राप्त हो जाता है, तब आदमी को अहंकार आ जाना स्वाभाविक है। यह आदमी की दुर्बलता है कि वह थोड़ा प्राप्त करके भी अहंकार करने लगता है, पर जिसने सब कुछ प्राप्त कर लिया, वह कभी अहंकार नहीं करता। अहंकार के अनेक निमित्त हैं। आदमी उच्च-जाति का अहंकार भी कर सकता है। इसी तरह मेरे पास बहुत ज्ञान है—इसका भी अहंकार हो सकता है। उच्च-कुल का भी अहंकार हो सकता है।

एक बार कोई व्यक्ति मंदिर में पूजा करने जा रहा था। वह उच्च कुल का था। मार्ग में कोई चांडाल उससे टकरा गया। उस व्यक्ति को बहुत गुस्सा आया और बोला—मैं मंदिर में पूजा करने जा रहा था। तुमने मुझे भ्रष्ट कर दिया, अपवित्र बना दिया! चांडाल ने कहा—भाई! मैं तो जाति से ही चांडाल हूं। फिर भी मेरे भीतर न आवेश है, न गुस्सा है। असली चांडाल तो आपके भीतर बैठा है, आपको कितना गुस्सा आ रहा है! यह गुस्सा चांडाल नहीं है क्या? पहले आप इसे दूर करें।

आदमी में अहंकार है या नहीं, इसकी पहचान कैसे की जा सकती है? अगर आदमी के मन में सम्मान पाने

की भावना है, अधिकार पाने की भावना है, सत्ता पाने की भावना है—अर्थात् बड़ा बनने की भावना है, तो समझना चाहिए कि उसमें 'अहंकार' है। जिसमें अहंकार नहीं होता है, उसमें बड़ा बनने की भावना भी नहीं हो सकती है।

शास्त्रकार ने सुंदर कहा है कि मान-विजय से तीन लाभ होते हैं। पहला लाभ बताया गया है कि मान-विजय से मार्दव यानी मृदुता उत्पन्न होती है। व्यवहार में मृदुता, वाणी में मृदुता और चिंतन में मृदुता आ जाती है। मृदुता जीवन का एक बड़ा गुण होता है। दूसरा लाभ बताया गया है कि 'मान वेदनीय कर्म' का बंध नहीं होता। जो अहंकार करता है, उसके 'मान वेदनीय कर्म' का बंध होता है। इसलिए मान पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद मान के रूप में बंधने वाला 'मान वेदनीय कर्म' नहीं बंधता। तीसरा लाभ बताया गया है कि कोई पुराना 'मान वेदनीय कर्म' बंधा हुआ होता है, तो उसकी निर्जरा हो जाती है, वह क्षीण हो जाता है।

आर्हत वाङ्मय के प्रतिष्ठित आगम उत्तराध्ययन सूत्र के उनतीसवें अध्ययन में एक और प्रश्नोत्तर प्राप्त होता है। प्रश्न किया गया—'**माणविजएणं भंते! जीवे किं जणयइ?**—भंते! मान-विजय से जीव को क्या प्राप्त होता है?'—उत्तर दिया गया—'**माणविजएणं मद्दं जणयइ, माणवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेर**—मान-विजय से मार्दव उत्पन्न होता है। मान वेदनीय कर्म का बंधन नहीं होता और पूर्व-बद्ध कर्म की निर्जरा हो जाती है।'

आदमी में ज्ञान होता है और साथ में अहंकार भी आ जाता है—तो क्या होता है। संस्कृत श्लोक में कहा गया है—**ज्ञानाजीर्णमहंकृति**—यानी अहंकार तो ज्ञान का अजीर्ण है। कभी कुछ ज्यादा खा लेने से भी अजीर्ण हो जाता है—वह भोजन का अजीर्ण है। ज्ञान का अजीर्ण तब होता है, जब अहंकार आ जाता है। भोजन का अजीर्ण होने पर उसकी एक दवा है—पानी। अधिक पानी पीना है। ज्ञान के अजीर्ण की दवा है—खूब विनम्रता रखना। अहंकार विलय और नम्रता मात्र छोटों में ही नहीं, बड़ों में भी होनी चाहिए।

मृदुता और नम्रता दूसरों के लिए आकर्षण का केंद्र बन सकते हैं। यदि जीवन में मृदुता आ जाए, तो अनेक समस्याओं से बचा जा सकता है और जो समस्याएं आ चुकी हैं, उनका समाधान भी हो सकता है। अतः अहंकार को छोड़ने और नम्रता व मृदुतापूर्ण व्यवहार करने का प्रयास किया जाना चाहिए। यही कल्याणकारी है। ❖

पर्यावरण संकट : इच्छाओं की अनंतता, आवेग, आवेश पृष्ठ 26 का शेष

स्वतः-मूल्य के रूप में स्वीकार करना है। अहिंसा से इनके अस्तित्व को अभिव्यक्ति के स्तर पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है, पर इसके मूल में अपरिग्रह की चेतना चाहिए। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है—जहां अपरिग्रह है, वहां संतुलन है और जहां संतुलन है, वहां स्वस्थता है। जहां स्वस्थता है, वहां विकास है। जहां विकास है, वहां जीवन का उन्नत स्तर है। जहां उन्नत जीवन-स्तर है, वहां प्रकृति का हर तत्त्व स्वतः मूल्यवत्ता का विस्तृत निदर्शन है। शांति के लिए व्यवस्था, व्यवस्था के लिए सह-अस्तित्व, सह-अस्तित्व के लिए समन्वय, समन्वय के लिए सत्य, सत्य के लिए अभय, अभय के लिए अहिंसा, अहिंसा के लिए अपरिग्रह एवं अपरिग्रह के लिए संयम चाहिए। आचार्यश्री तुलसी ने तभी तो कहा—संयम ही जीवन है। संयम ही सुखद भविष्य का निर्माण करने में समर्थ है। इसका कोई विकल्प नहीं है। ❖

संदर्भ :

1. आचारांगभाष्य—जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं, 1994: 1.39/ **2.** आचारांगभाष्य—1.19-23/ **3.** आचारांगभाष्य—पृ. 44/ **4.** डॉ. अरुण रघुवंशी एवं डॉ. चन्द्रलेखा रघुवंशी, पर्यावरण तथा प्रदूषण—पृ.-116 : मध्यप्रदेश, हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल 1990/ **5.** आचार्यश्री महाप्रज्ञ, पर्यावरण-समस्या और समाधान : जैन विश्व भारती, पृ. 5-6/ **6.** पर्यावरण-समस्या और समाधान, पृ. 13/ **7.** उत्तराध्ययन: जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं 1992 : 4.5/ **8.** आचारांगभाष्य—4.8/ **9.** अर्हत् वाणी: आदर्श साहित्य संघ (1996), पृ. 59/ **10.** दसवेआलियं, जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं (तीसरा संस्करण: 2007), 6.10/ **11.** दसवेआलियं—4.9/ **12.** आचारांगभाष्य—पुढो सिया, 1.16/ **13.** दसवेआलियं—4.10/ **14.** श्रमण प्रतिक्रमण, जैन विश्व भारती, 1997, पृ. 21/ **15.** तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति, परस्परोपग्रहो जीवानाम्।/ **16.** आचार्य तुलसी : अर्हत् वंदना—अहिंसा सूत्रं ❖❖

स्वस्थ समाज की आधारभूमि इच्छा का अल्पीकरण; कामना का संयम

❀ मुनि धनंजयकुमार ❀

व्यक्ति का चरित्र समाज को प्रभावित करता है। समाज कैसा है, इस प्रश्न का उत्तर इस प्रश्न में छिपा होता है कि उस समाज में उच्छ्वास लेने वाला व्यक्ति कैसा है? जिस समाज के व्यक्ति अच्छे हैं, संस्कारी हैं—वह स्वस्थ और आदर्श समाज हो सकता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि समाज की प्रतिष्ठा व्यक्ति-सापेक्ष है। जिस समाज के व्यक्ति असदाचारी हैं, उच्छृंखल हैं, आपराधिक मनोवृत्ति वाले हैं—वह समाज रुग्ण है, पतनोन्मुख है। वह कभी श्रेष्ठ समाज नहीं हो सकता। यद्यपि हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि अच्छे समाज में भी गेहूं में कंकड़ की भांति कुछ अराजक तत्त्व हो सकते हैं और रुग्ण समाज में भी कुछ सदाचारी और संस्कारी पुरुष कीचड़ में कमल की भांति विकसित होते हुए देखे जाते हैं, किंतु यह एक आपवादिक स्थिति है। इस स्थिति में भी वही व्यक्ति अथवा समाज पूज्य और प्रतिष्ठित होता है—जो चरित्र-संपन्न और संस्कारी है।

जहां समाज है, वहां समस्या है। जहां व्यक्ति अकेला है, वहां कोई समस्या नहीं है। यह भी एक समस्या ही है कि व्यक्ति अकेला जी नहीं सकता। उसे सहयोग चाहिए, किसी का सहारा चाहिए, आलंबन चाहिए। समाज और परिवार उसे एक आश्वासन प्रतीत होता है, सहारा और आश्रय लगता है। उसे इस बात से संतोष मिलता है कि उसकी समस्या को कोई सुनने वाला है, सुलझाने वाला है। कठिनाई के क्षणों में वह अकेला नहीं है। इस दृष्टि से समाज का होना एक समाधान भी माना जा सकता है।

व्यक्ति और समाज के अंतर्संबंधों पर विचार करें तो यह प्रतीत होता है कि समाज व्यक्ति-सापेक्ष है और व्यक्ति समाज-सापेक्ष है। व्यक्ति की समस्या से समाज प्रभावित होता है और समाज की समस्या से व्यक्ति प्रभावित होता है। इस प्रतीति में सचाई नहीं है—यह नहीं कहा जा सकता, किंतु इसे समग्र सच भी नहीं माना जा सकता। समाज का निर्माता व्यक्ति ही है। जैसा व्यक्ति होता है, समाज भी वैसा ही बन जाता है। यदि व्यक्ति अच्छा है, चरित्रनिष्ठ है—तो समाज भी अच्छा बनेगा। अतः समाज के अच्छा बनने और न बनने का आधार व्यक्ति है। अनेक लोग इस भाषा में सोचते हैं कि 'हमारा व्यक्तिगत जीवन कैसा ही हो, इससे किसी को क्या मतलब?' इस आधार पर व्यक्ति के

९२वां जन्म दिवस : आषाढ़ कृष्णा तेरस : २९ जून

❀ प्रज्ञा दिवस ❀

संदर्भ : आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का साहित्य

गलत आचरण और व्यवहार की भी उपेक्षा हो जाती है। यह स्थिति अथवा उदासीनता समाज में विकृतियों और अपराधों को जन्म देती है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और इक्कीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध को प्रभावित करने वाले युगपुरुष रहे हैं। उन्होंने न केवल व्यक्ति और समाज की समस्याओं का अध्ययन किया, अपितु उनके मूल कारणों को भी खोजा। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप न करने की अवधारणा को स्वस्थ समाज की रचना में प्रमुख बाधा माना। उनका स्पष्ट मंतव्य रहा कि—'····एक तर्क है कि व्यक्तिगत जीवन व्यक्ति का अपना मामला है। उसमें दूसरे का हस्तक्षेप क्यों चाहिए? कोई व्यक्ति कैसा ही जीवन जीता है, यह उसी का प्रश्न है। दूसरे को इससे क्या? एक आदमी बोला—'मियांजी! आम आए हैं।' मियां ने कहा—'मुझे क्या?' वह बोला—'आपके ही आए हैं।' मियां ने कहा—'फिर तुझे क्या?' आज का आदमी इसी भाषा में सोचता है कि मेरा चरित्र चाहे जैसा हो, उससे दूसरे को क्या मतलब? किसी व्यक्ति के चरित्र की समालोचना करने पर वह उत्तर की भाषा में कहता है—'तुम मेरे व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप क्यों कर रहे हो?' इस चिंतन ने नैतिकता और आचार को बहुत धक्का पहुंचाया है, सामाजिक जीवन में अनेक बुराइयों को पनपने का अवसर दिया है। समाज में अनेक विकृतियां बढ़ती हैं। एक हत्यारे के प्रति आपके मन में अनादर का भाव पैदा हो सकता है। एक चोर के प्रति आपके मन में घृणा पैदा हो सकती है। एक डाकू के प्रति आपका मन आक्रोश से भर सकता है। एक व्यभिचारी के प्रति आपके मन में तिरस्कार के भाव उभर सकते हैं। प्रश्न है—हत्यारे, चोर, डाकू और व्यभिचारी को किसने पैदा किया? क्या आज की गलत मान्यताएं, गलत चिंतन उनको पैदा करने में उत्तरदायी नहीं हैं? क्या आज का सामाजिक वातावरण उनके निर्माण के लिए उत्तरदायी नहीं है? सचमुच इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए। ····एक व्यक्ति सार्वजनिक क्षेत्र में काम करता है, ऊंचे पद पर आता है, उसका चरित्र सबके लिए अनुकरणीय बन जाता है। यह चिंतन कि उसके व्यक्तिगत जीवन से हमें क्या प्रयोजन—अपने आप में भ्रांत है। मैं मानता हूं कि अत्याचार को बढ़ावा देने का इससे बड़ा कोई सूत्र नहीं हो सकता।'[1]

व्यक्ति का चरित्र समाज को प्रभावित करता है। समाज कैसा है, इस प्रश्न का उत्तर इस प्रश्न में छिपा होता है कि उस समाज में उच्छ्वास लेने वाला व्यक्ति कैसा है? जिस समाज के व्यक्ति अच्छे हैं, संस्कारी हैं—वह स्वस्थ और आदर्श समाज हो सकता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि समाज की प्रतिष्ठा व्यक्ति-सापेक्ष है। जिस समाज के व्यक्ति असदाचारी हैं, उच्छृंखल हैं, आपराधिक मनोवृत्ति वाले हैं—वह समाज रुग्ण है, पतनोन्मुख है। वह कभी श्रेष्ठ समाज नहीं हो सकता।

यद्यपि हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि अच्छे समाज में भी गेहूं में कंकड़ की भांति कुछ अराजक तत्त्व हो सकते हैं और रुग्ण समाज में भी कुछ सदाचारी और संस्कारी पुरुष कीचड़ में कमल की भांति विकसित होते हुए देखे जाते हैं, किंतु यह एक आपवादिक स्थिति है। इस स्थिति में भी वही व्यक्ति अथवा समाज पूज्य और प्रतिष्ठित होता है—जो चरित्र-संपन्न और संस्कारी है। इसीलिए स्वस्थ समाज में अराजक तत्त्व 'गेहूं में कंकड़' की उपमा से उपमित होता है और रुग्ण समाज में चरित्र संपन्न व्यक्ति 'दल-दल में कमल' की तरह सम्मान्य। जैन आगम का एक महत्त्वपूर्ण सूक्त है—**खुड्डेहिं सह संसग्गिं हासं कीडं च वज्जए'**—क्षुद्र व्यक्तियों से संसर्ग मत करो, हास्य और क्रीड़ा मत करो। यह निर्देश दिया गया है—**सज्जनानां संगतिः कार्या**—सज्जन व्यक्ति से संपर्क करो, अच्छे व्यक्तियों की संगति करो। अच्छे व्यक्ति के संसर्ग से वृत्तियों के परिष्कार का चिंतन प्रबल बनता है और व्यक्ति महानता की दिशा में चरणन्यास करता है। क्षुद्र व्यक्तियों के संपर्क से पाशविक वृत्तियों को पोषण मिलता है और पतन का द्वार उद्घाटित हो सकता है।

आजकल समाचार-पत्रों में भ्रष्ट देशों की सूची प्रकाशित होती है। 'कौन देश कितना भ्रष्ट है'—इसका मूल्यांकन किया जाता है और उसके आधार पर स्थान निर्धारित होता है। **स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः** —जिस भारत देश में लोग चरित्र, नैतिकता और अध्यात्म की शिक्षा के लिए आते रहे हैं, वही भारत भ्रष्टाचार के मामले में शीर्ष स्थान पर अवस्थित है। चरित्र, नैतिकता और अध्यात्म का नेतृत्व करने वाला देश आज किस ओर जा रहा है? एक वह युग था, जब राजा उस सत्ता और संपदा को लौटाना पसंद करते थे, जिस सत्ता और संपदा

की पृष्ठभूमि में सदाचार नहीं होता। इस संदर्भ में महाप्रज्ञ-साहित्य की ही एक कथा को उद्धृत करना प्रासंगिक होगा—'राजा समरसेन ने पड़ोसी देश पर आक्रमण किया। वह विजयी हो गया। विजय के बाद नगर में विजयोल्लास मनाया गया। राजा ने देखा—सब लोग प्रसन्न हैं, पर मंत्री प्रसन्न नहीं है। राजा के बाद जिसका सर्वोच्च स्थान है, वह अप्रसन्न है। राजा ने कहा—'मंत्रीवर! आज विजयोल्लास है। चारों ओर प्रसन्नता है। आप अप्रसन्न दिखाई दे रहे हैं। क्या बात है?'

मंत्री बोला—'नहीं राजन! खास बात नहीं है?'

राजा—'मंत्री प्रसन्न न हो तो विजय का क्या अर्थ है? संचालन तो सारा मंत्री को करना है।'

मंत्री—'आप ठीक कह रहे हैं। मैं बिल्कुल प्रसन्न नहीं हूं।'

राजा—'विजय अच्छी नहीं लगी?'

मंत्री—'विजय तो अच्छी लगी, किंतु जिस राज्य को जीत कर आपने अपने राज्य में मिलाया है, वह मुझे अच्छा नहीं लगा। मैं चाहता हूं कि आप उस राज्य को पुनः लौटा दें।'

राजा—'मंत्रीवर! आप कैसी बात कर रहे हैं? जिसको जीता, उसको कैसे लौटाएं?'

मंत्री—'महाराज! आपने जिस राज्य को जीता है, उस राज्य का चरित्र अच्छा नहीं है, वहां ईमानदार लोग नहीं हैं। हमने बेईमान राज्य को अपने राज्य के साथ मिलाया है। हमारा राज्य चरित्र-संपन्न है, साथ मिलाने से वह भी बिगड़ जाएगा। हमारा नुकसान हो जाएगा। इसलिए मैं कहता हूं कि आप उसे लौटा दें।'

राजा—'आपकी बात समझ में आ गई, पर आप मुझे प्रमाण दो कि वह बेईमान कैसे है? चरित्रहीन कैसे है?'

कुछ दिनों बाद राजा और मंत्री दोनों जीते हुए राज्य की राजधानी में पहुंचे। घोषणा करा दी कि कल राजा तालाब में जाकर क्रीड़ा करेंगे। इसलिए नागरिकों से निवेदन है कि एक-एक दूध का लोटा तालाब में डालें। घोषणा हो गई। रात को सब सो गए। सुबह जाकर देखा—तालाब पानी से भरा है। मंत्री बोला—'महाराज! कितने बेईमान नागरिक हैं, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण आपके सामने है। कहीं ईमान नहीं, कहीं चरित्र नहीं, कहीं नैतिकता नहीं, प्रामाणिकता नहीं। ऐसे राज्य को मिला कर क्या आप अपने राज्य को नष्ट करना चाहते हैं?'

राजा ने कहा—'आपकी बात बिल्कुल ठीक है।'

तत्काल वहां का जो शासक था, उसको बुलाया। राजा ने कहा—'यह अपना राज्य संभालो, हम अपने राज्य में जाते हैं।'[2]

जो व्यक्ति चरित्र-संपन्न नहीं होता, वह दूसरों के चरित्र को भी नष्ट करने का प्रयत्न करता है। जिसकी नाक कट जाती है, उसे दूसरों की आकर्षक नाक अच्छी नहीं लगती। नकटा आदमी अपनी नाक कटवा कर जितनी लज्जा का अनुभव नहीं करता, उतना वह दूसरों की नाक को कटता देख कर हर्ष का अनुभव करता है। यह मानवीय प्रकृति का एक दुर्बल पक्ष है। एक चरित्र-भ्रष्ट आदमी दूसरों को चरित्रहीन बनाने का प्रयत्न करे—इसमें आश्चर्य ही क्या है?

प्रश्न है कि हम चरित्रहीनता किसे मानें? हमें स्वस्थ समाज के संदर्भ में चरित्रहीनता की एक परिभाषा निर्धारित करनी होगी। एक मुनि सांसारिक संबंधों से मुक्त होता है। उसके चरित्र के मानक धर्म-ग्रंथों में उपलब्ध हैं। एक गृहस्थ सामाजिक संबंधों का निर्वाह करता है—उसका चरित्र कैसा होना चाहिए? स्वस्थ समाज संरचना के संदर्भ में एक सामाजिक प्राणी की चरित्रनिष्ठा के मानक क्या हों? आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने स्वस्थ समाज के तीन लक्षण बतलाए हैं। इन लक्षणों के आधार पर चरित्र-निष्ठ समाज के मानक निर्धारित किए जा सकते हैं। ये मानक हैं— ● जिस समाज में काम-भोग पर नियंत्रण किया जाता है, वह स्वस्थ समाज है। ● जिस समाज में अनावश्यक हिंसा नहीं होती, वह स्वस्थ समाज है।● जिस समाज में आर्थिक अपराध नहीं होता, वह स्वस्थ समाज है।[3]

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने चरित्रहीन समाज के लक्षण भी प्रस्तुत किए हैं और उनके परिणामों की भी विशद चर्चा की है। वे चरित्रहीनता के तीन रूप बताते हैं— 1. **क्रूरता**—यह हत्या, मारकाट के रूप में प्रकट होती है। 2. **परिग्रह**—यह आर्थिक अपराध है। व्यावसायिक भ्रष्टता, चोरी, डकैती के रूप में प्रकट होता है। 3. **व्यभिचार**—यह कामुकता के रूप में प्रकट होता है।[4]

हिंसा, अर्थ-लोलुपता और कामुकता—ये तीनों समूचे समाज को प्रभावित करती हैं। वर्तमान समय में हत्याएं बढ़ी हैं। उनके पीछे सत्ता और धन की शक्ति तो काम करती ही है, इच्छाओं को भोग लेने, जो इच्छा पैदा हुई उसे कर डालने की मनोवृत्ति भी काम करती है। एक विद्यार्थी ने सिनेमा देखा, हत्यारे को समाचार-पत्रों की सुर्खियों में समूचे विश्व में प्रसिद्ध होते देखा—वह दृश्य उसके मन को भा गया। वह विश्वविद्यालय के भवन की गुंबज पर बैठा और उसने चार-पांच छात्रों की हत्या कर डालीं। न्यायाधीश के सामने अपने अपराध को स्वीकार करते हुए उसने कहा—'मेरे मन में समूचे राष्ट्र में प्रसिद्ध होने की इच्छा जागी, उसे पूरा करने के लिए मैंने ये हत्याएं कीं।'—कैसा पागलपन? यह पागलपन क्यों आया? इच्छाओं को भोग लेने की मनोवृत्ति के कारण ही ऐसा हुआ। किसी भी कीमत पर इच्छा को पूरा कर लेना चाहिए, यह मनोभाव पागलपन पैदा करता है।

अर्थ की लोलुपता के कारण भी चरित्रहीनता पराकाष्ठा पर पहुंच रही है। अर्थ के अर्जन में जिन साधनों का प्रयोग किया जाता है, वैसे साधनों की चर्चा प्राचीन साहित्य में विरल ही मिलेगी। येन-केन प्रकारेण धन अर्जित करने की भावना सारे समाज में व्याप्त है। इसमें बड़े आदमी आगे हैं। वे अगुआ हैं, जो विपुल संपत्ति के स्वामी हैं। बड़ी गड़बड़ियां वे ही कर सकते हैं, जिनके पास विपुल साधन हैं। दस-बीस लाख की रिश्वत बड़े साधन वाला ही दे सकता है। बड़ा घोटाला बड़ा आदमी ही कर सकता है। सामाजिक मानदंड ही ऐसे बन गए हैं कि बड़ा वह माना जाता है, जिसके पास अपार संपत्ति है। बड़ा वह माना जाता है, जिसके पास बड़ा अधिकार है। बड़ा वह माना जाता है, जिसकी पहुंच बड़े पद पर रहने वाले व्यक्तियों तक है। ऐसे बड़े आदमी ही बड़ी आर्थिक गड़बड़ियां कर सकते हैं। छोटा आदमी छोटी गड़बड़ी कर सकता है, पर बड़ा आर्थिक घोटाला करने के लिए उसके पास साधन ही कहां? निस्संदेह समूचा समाज आर्थिक चरित्रहीनता के परिणामों को भोग रहा है।

व्यभिचार के परिणामों से भी आज समूचा समाज आक्रांत है। ब्रह्मचर्य का अर्थ ही खो गया है। हजारों-हजारों वर्षों के चिंतन और हजारों वर्ष पुरानी परंपरा में ब्रह्मचर्य की गुणगाथा गाई जाती रही है। वह आज विस्मृत-सी हो रही है। जो तथ्य मनुष्य के व्यक्तिगत स्वास्थ्य से लेकर सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन को प्रभावित करता था, उसे सर्वथा भुला दिया गया है। अति अब्रह्मचर्य के कारण धृति, सहिष्णुता, प्रतिभा और स्वानुभव की अत्यधिक हानि हुई है। अनेक प्रकार की विकृतियां और कुंठाएं पनपी हैं। बड़े से बड़े साम्राज्य के पतन में कामुकता का हाथ रहा है। सुरा और सुंदरी ने क्या-क्या नहीं किया? अनेक युद्धों के पीछे कामुकता की कहानी जुड़ी हुई है। हिंसा, भ्रष्टाचार और कामुकता का हेतु क्या है? मनुष्य की असीम आकांक्षा, अतृप्त वासना और प्रवर्धमान असंतोष इसका प्रमुख हेतु है।

आज कोई भी प्राणी संतुष्ट और तृप्त नहीं हो रहा है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी बताते हैं—'आज हर व्यक्ति के मन में असंतोष है। उसकी चरम परिणति है—अपराध। इन दो शताब्दियों में अपराधमुक्त समाज की रचना के लिए अनेक प्रयत्न किए गए। पश्चिमी चिंतकों ने समाजवाद (ब्रिटेन), साम्यवाद (सोवियत संघ), श्रमिक संघवाद (फ्रांस) जैसे नए शब्द और अभिनव सिद्धांत दिए। भारतीय चिंतकों ने अतिमानववाद (अरविंद), नवमानववाद (एम.एन. राय), सर्वोदय (गांधी), आदर्श समाज (डॉ. राममनोहर लोहिया) की प्ररूपणा दी। इन वादों और प्रयत्नों की छत्रछाया में स्वस्थ समाज संरचना की कल्पना की गई। अणुव्रत अनुशास्ता आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत के माध्यम से स्वस्थ समाज का स्वप्न संजोया। किंतु, कोई भी प्रयत्न अपनी मंजिल तक पहुंचने में सफल नहीं हुआ। इस विषय पर गंभीरतापूर्वक विमर्श करना आवश्यक है।'[5]

भ्रष्टाचार और आपराधिक घटनाओं से मन में एक प्रश्न उभरता है कि क्या भ्रष्टाचार और अपराध जुड़वां भाई हैं? भ्रष्टाचार की पृष्ठभूमि में अपराध और अपराध की पृष्ठभूमि में भ्रष्टाचार को खोजा जा सकता है। भ्रष्टाचार में लिप्त और आपराधिक गतिविधियों में संलग्न लोग एक-दूसरे के संपोषण और संरक्षण में लगे हुए हैं। भगवान महावीर की भाषा में यह **'असतीजन पोषण'** है। जिस समाज में भ्रष्ट और आपराधिक तत्त्वों को पोषण, संरक्षण और प्रोत्साहन मिलता है, उस समाज को स्वस्थ समाज कैसे कहा जा सकता है? ऐसा समाज शांति और सुख का उच्छ्वास भी कैसे ले सकता है?

भ्रष्टाचार के विरुद्ध कुछ दिनों से एक जन-चेतना अभियान चल रहा है। गांधीवादी अण्णा हजारे के नेतृत्व में

इस अभियान के साथ देश का प्रबुद्ध वर्ग भी सक्रिय हुआ है। जन लोकपाल विधेयक का प्रारूप बन रहा है। भ्रष्टाचार उन्मूलन की दिशा में इसे सार्थक पहल माना जा रहा है। इस संदर्भ में मुझे याद आ रहा है—4 जुलाई, 2005 का दिन : आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का 86वां जन्मदिन। भारत के तत्समय के राष्ट्रपति डॉ. ए.पी.जे अब्दुल कलाम का आचार्यश्री को जन्मदिन की बधाई देने के लिए अध्यात्म साधना केंद्र, नई दिल्ली में आगमन। राष्ट्रपति ने जन्मदिन की बधाई देते हुए आचार्यश्री को कहा—'आपके प्रस्वेद की एक-एक बूंद हिंसा के प्रतिरोध में अहिंसा के शस्त्र का निर्माण करती है। यह अहिंसा का शस्त्र जनता में नई आस्था का संचार करता है।'

डॉ. कलाम ने इस अवसर पर भ्रष्टाचार-मुक्त समाज के निर्माण का आह्वान करते हुए इस 'महान दिवस' पर लिखा अपना एक आलेख समर्पित किया। भ्रष्टाचार के विरुद्ध मानवीय विवेक-चेतना के जागरण पर बल देने वाले आलेख में इस समस्या की भयावहता का हृदयस्पर्शी चित्रण है।

'विवेक आत्मा का प्रकाश है, जो हमारे मनोविज्ञानी-हृदय के प्रकोष्ठों में प्रदीप्त होता है। यह जीवन के समान ही सत्य है। जब हम सदाचार के विपरीत कोई भी कार्य सोचते या करते हैं, तो यह उसका विरोध करता है।'

'विवेक सत्य का एक रूप है। यह हमारे आनुवंशिक कोष के माध्यम से ज्ञान के रूप में हमारे अच्छे अथवा बुरे कार्यों को करता अथवा महसूस करता है।'

'विवेक ही वह खाता है, जहां हमारे दोष रखे और दर्ज किए जाते हैं। यह एक निर्भय साक्षी है। यह धमकाता है, पुरस्कृत करता है, वादा करता है और सजा देता है, सभी को अपने नियंत्रण में रखता है। अगर विवेक एक बार धमकाता है, तो चेतावनी होती है। यदि दुबारा धमकाता है तो यह दंडादेश होता है।'

कायर पूछता है—'क्या यह सुरक्षित है?'
लालची पूछता है—'क्या इससे कोई लाभ है?'
दंभी पूछता है—'क्या इससे मैं महान बन सकता हूं?'
लोलुप पूछता है—'क्या इसमें कोई सुख है?'
परंतु विवेक पूछता है—'क्या यह सही है?'

हम इतने बहरे क्यों हो चुके हैं कि हमें विवेक की आवाज सुनाई नहीं देती? क्यों हम संवेदनहीन हो जाते हैं? क्यों हमें अपनी आलोचना अखरने लगती है?

भ्रष्टाचार हमारे विवेक पर एक हमला है। घूस लेना और फायदे की इच्छा रखना एक आम बात हो चुकी है। ऊंचे पदों पर आसीन लोग अपने विवेक के प्रति बहुत गैर-जिम्मेदार हो गए हैं। वे दिखावा करते हैं कि सबकुछ ठीक-ठाक है। वे यह नहीं जानते कि हरेक क्रिया की एक प्रतिक्रिया होती है? क्या वे भूल गए हैं कि हमारे अवचेतन में बैठे विचार और उनकी शक्ति किस प्रकार कार्य करती है? यदि आप घूस लेते हैं, तो आपके विचार और कार्य आपके अवचेतन मन में दर्ज हो जाते हैं। ऐसा करके क्या आप अपनी बेईमानी, अपनी अगली पीढ़ी को नहीं दे रहे?

यह बहुत कष्टदायक वास्तविकता है कि भ्रष्टाचार हमारी जीवन शैली का एक हिस्सा बन गया है और यह हमारे वैयक्तिक और सामाजिक पहलुओं को प्रभावित कर रहा है। उच्च पदों पर बैठे लोगों की भ्रष्ट कार्य-प्रणाली और शक्ति के इस्तेमाल ने निचले पदों पर बैठे लोगों के मन में अपराध-बोध को समाप्त कर दिया है। यह कितनी भयानक स्थिति है। लगता है कि एक महान सभ्यता खतरे में है।

एक सदाचारी व्यक्ति विवेक-शक्ति का स्वयं प्रयोग कर सकता है। वह स्वयं ही अपनी आत्मा की स्पष्ट आवाज सुन सकता है। दुष्ट व्यक्ति में इस प्रकार का गुण नहीं होता। उसकी विवेक-शक्ति में संवेदना का स्वरूप पाप या भ्रष्टाचार से नष्ट हो गया है। इसलिए वह सही और गलत के बीच अंतर नहीं कर पाता।

यदि आज गलत और पापपूर्ण कार्य किया जाता है और उसे हलके रूप में लेते हैं, तो कल कोई गंभीर अपराध करने में भी हिचकिचाएंगे नहीं। यदि अपने अंतःकरण में एक भी पाप को प्रवेश करने देते हैं और बसने देते हैं, तो हजारों पापों के लिए मार्ग प्रशस्त होता है। तब अंतःकरण सो जाएगा और संवेदना खो जाएगी। तब दुष्ट कार्य करने की आदत जहर की तरह सारे शरीर में फैल जाएगी। क्या आप जानते हैं कि जब आप भ्रष्ट बनेंगे तो आप अपने बच्चों के आदर्श नहीं बन पाएंगे। क्या यह अपमानजनक नहीं है?

आध्यात्मिक जगत ने सदाचार की सूक्तियों, संहिताओं और शिक्षाओं की रचना की है। सुंदर भजन, गीत और प्रार्थनाएं लिखी और संगीतबद्ध की गई हैं। आचार्यश्री

महाप्रज्ञजी ने इस विषय पर लिखा—'क्या भ्रष्टाचार को कम किया जा सकता है?' भ्रष्टाचार के कारण और उनके निवारण के उपायों का इसमें विशद वर्णन है।[6]

भ्रष्टाचार, अपराध, हिंसा और अनैतिकता ने समाज के चेहरे को विकृत किया है। क्या इस विकृत चेहरे को सुंदर, सुरूप, मनोहर और दर्शनीय बनाया जा सकता है? क्या समाज का आभामंडल विशुद्ध और आकर्षक हो सकता है? इस प्रश्न के परिप्रेक्ष्य में फिर यही द्वंद्व उभरता है कि व्यक्ति सुधरे बिना समाज नहीं सुधरता और समाज सुधरे बिना व्यक्ति को सुधारने में कठिनाई होती है। यह दोनों ओर से आने वाली समस्या है। हम पहले क्या करें? व्यक्ति को सुधारें या समाज को सुधारें?

प्रस्तुत संदर्भ में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी स्वयं ही एक सवाल उठाते हुए मार्गदर्शन देते हैं—'कभी-कभी प्रश्न आता है कि शासन-व्यवस्था कितनी अच्छी है? प्रतिप्रश्न होता है—चलाने वाला कैसा है? साम्यवाद की व्यवस्था हो गई, किंतु साम्यवाद के संचालक वैभव-विलास में इतने निमग्न हो गए कि साम्यवादी राष्ट्रपति के पैरों की जूतियों में हीरे जड़े हुए मिले। इससे बड़ी साम्यवाद की विडंबना क्या हो सकती है? जहां एक ओर अर्थ के साम्यीकरण का प्रयत्न है, वहां दूसरी ओर इतना वैषम्य कि एक राष्ट्रपति राजाओं से भी ज्यादा विलासिता पूर्ण स्थिति में रहे। व्यक्ति नहीं बदलता है तो केवल व्यवस्था के बदलने से क्या होगा? प्रश्न है—व्यक्ति क्यों नहीं बदलता? उसका कारण है—पदार्थवादी और भोगवादी दृष्टिकोण।'

'जब तक यह दृष्टिकोण नहीं बदलता, तब तक हम स्वस्थ समाज की कल्पना नहीं कर सकते। मार्क्स ने बहुत प्रयत्न किया, एक नया दर्शन दिया। ऐंजल्स ने उसे क्रियान्वित करने का प्रयत्न किया। किंतु, मार्क्स और ऐंजल्स ने अपने अंतिम समय में लिखा है—'हमने और बहुत किया, किंतु इसके साथ हम अध्यात्म को नहीं जोड़ सके। यह हमारी सबसे बड़ी भूल रही। अंतिम समय में हमें यह पता चला कि इसके साथ अध्यात्म का योग बहुत जरूरी है। अगर पहले पता लग जाता तो हम आर्थिक व्यवस्था के साथ अध्यात्म को भी जोड़ देते। पर, अब अंतिम समय इतना निकट आ गया, जीवन बहुत थोड़ा बचा है, इसलिए हम इसे जोड़ने में असमर्थ हैं। यह एक सचाई की स्वीकृति है—जब तक अध्यात्म नहीं जुड़ेगा, समाज-रचना को बदला नहीं जा सकेगा।[7]

भगवान महावीर ने कहा—**'कामे कमाहि कमियं खु दुक्खं'**—सारे दुख कामना के साथ उत्पन्न होते हैं। कामना का अतिक्रमण करो, दुख अपने आप मिट जाएगा।'

पाप को कौन कराता है? गीता में इस बात को ठीक पकड़ा गया—**काम एष**—यह काम करवा रहा है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने गीता और जैन-आगम के इन कथनों को उद्धृत करते हुए लिखा—'अध्यात्म के आचार्यों ने सचमुच जड़ को पकड़ा था। समाजवाद और साम्यवाद के कर्णधारों ने जड़ को नहीं पकड़ा, तने को पकड़ लिया। स्वस्थ समाज की जड़ है—कामना का संयम और उसका तना है—अर्थ का संयम। ये दो बातें आती हैं, तो स्वस्थ समाज के लिए हमारी पृष्ठभूमि प्रशस्त बन जाती है। कामना का संयम है, तो उपभोग की सीमा अपने आप हो जाती है। स्वस्थ समाज के लिए प्रथम आवश्यकता है—काम को समझना, काम की समस्याओं का अध्ययन करना, काम के द्वारा होने वाली अभिवृत्तियों का अध्ययन करना, उसके दुष्परिणामों का अध्ययन करना और काम पर नियंत्रण करने वाली आध्यात्मिक विधियों का अध्ययन करना, प्रयोग करना। इस स्थिति में आर्थिक अपराध और भोग-उपभोग की जटिल समस्या का परिष्कार करने में बहुत सुविधा हो जाएगी।'

'हमारे सामने सबसे पहली समस्या उपभोक्तावाद की है। पर्यावरण के संदर्भ में कहा गया है कि पदार्थ सीमित है, उपभोक्ता ज्यादा है, इसलिए बांट-बांट कर खाओ। 'सबके लिए हो' यह अवधारणा राजनीति में प्राचीनकाल से चलती आ रही है। चाणक्य ने कहा—'अकेले मत खाओ, खाओ और खिलाओ।' इसे आज इस विकृत रूप में लिया जा रहा है कि रिश्वत खाओ और खिलाओ। स्वयं रिश्वत लो और दूसरों को भी रिश्वत खाने दो। इसलिए ऊपर का अधिकारी, बीच का अधिकारी और नीचे का अधिकारी—तीनों में मेल होता है। अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, पर्यावरणशास्त्र से जो अवधारणा अछूती रह गई, वह है—'अध्यात्मशास्त्र की। इन सबके साथ कामना में संयम की बात जोड़ दें, स्वस्थ समाज का आधार निर्मित हो जाएगा।'

शेष पृष्ठ 57 पर

आचार्यश्री तुलसी : सामाजिक अन्वेषण के अग्रणी पुरुष

❁ साध्वी शुभप्रभा ❁

आचार्यश्री तुलसी ने देखा कि आज हिंसा बढ़ रही है, आग्रह और अभिनिवेश की विषैली लताएं फैल रही हैं, अहं और आवेश की ज्वालाएं यत्र-तत्र सर्वत्र बढ़ती जा रही हैं, आतंक, दहशत और साजिशें जब-तब रची जाती रही हैं। उपभोक्तावाद तन-मन को क्लीव बना रहा है तथा अपराध का ऊंचा होता 'ग्राफ' समूचे व्यवस्था तंत्र को चुनौती दे रहा है। ऐसी भयावह स्थिति में जरूरी है कि 'संयमः खलु जीवनम्' के घोष को बुलंद किया जाए। 'सर्वे भवंतु सुखिनः' को आत्मसात करने के लिए 'सत्यं शिवं सुंदरं' को प्रायोगिक रूप दिया जाए ताकि 'मित्ति मे सव्वभूएसु' की भूमिका बन सके। हृदय-परिवर्तन और व्यवस्था-परिवर्तन के समुचित योग से ही सकारात्मक दृष्टिकोण का निर्माण हो सकेगा। तभी सद्संस्कारों के बीजारोपण की संभावना बनेगी और यह जीवन-पौध तभी पुष्पों-फलों से लहलहा सकेगी।

इतिहास बताता है कि मानवीय चिंतन की धरती पर प्रारंभ से ही दो धाराएं प्रवाहित रही हैं—एक भौतिकवादी और दूसरी अध्यात्मवादी। प्रथम का नाभिकीय बिंदु बना पदार्थ तथा द्वितीय धारा ने अभिषेक किया अध्यात्म का। पदार्थ के दो रूप सामने आए—उत्पन्न होना और विनष्ट होना। उसमें ध्रुव या स्थायी तत्त्व का समावेश नहीं है। आए दिन होने वाले अन्वेषण और आविष्कार इस कथ्य के स्वयंभू प्रमाण हैं। जो पदार्थ या वस्तु आज है, वह कल भी रहेगी या चलेगी—यह जरूरी नहीं है। जबकि अध्यात्म में उत्पत्ति और विनाश के साथ ध्रौव्यता का तत्त्व सन्निविष्ट रहता है। अध्यात्म रस का जितना सेवन-आसेवन होता है, वह उतना ही अधिक सरस, सरसतर और सरसतम बनता जाता है। उसकी उपयोगिता बढ़ती जाती है और आबाल-वृद्ध सभी उससे लाभान्वित होते हैं।

तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो भौतिकीय विज्ञान का अर्थ है—विशिष्ट ज्ञान। यह वैशिष्ट्य मस्तिष्क को प्रबुद्ध बना सकता है, जागतिक सृजन के नए आयाम उद्घाटित कर सकता है, पदार्थ का अंबार लगा सकता है, नई तकनीक विकसित कर सकता है, सुविधाओं की सेज बिछा सकता है। पर, परम शांति, आनंद और अव्याबाध सुख के 'फार्मूले' ईजाद करने में उसे कामयाबी हासिल नहीं हो सकती।

अध्यात्म के सरोवर में अवगाहन करने वाला स्वयं कष्ट सहन कर लेगा, पर दूसरों को तकलीफ देने का मनसा, वाचा और कर्मणा चिंतन भी नहीं करेगा। वह इस सत्य की निरंतर परिक्रमा करता है—**'जं हंतत्वं त्ति मन्नसि**—अर्थात् जिसे तू हंतव्य मानता है, वह तू ही है।' इसका तात्पर्य यह है कि दूसरों के द्वारा आहत होने पर जैसी अनुभूति तुझे होती है,

पंद्रहवां महाप्रयाण : आषाढ़ बदी तीज : 18 जून

पुण्य स्मरण

वैसी ही अनुभूति अन्य को भी होती है—जिसे तू आहत करता है।

सामान्यतया अध्यात्म और विज्ञान को परस्पर विरोधी घटक माना जाता है, जबकि आचार्यश्री तुलसी की अवधारणा में यह निरी भ्रामकता है। उनके अनुसार अज्ञात से ज्ञात की ओर प्रस्थान करना और प्राप्तव्य को प्राप्त करना दोनों का लक्ष्य है। सिद्धांत और प्रयोग (थ्योरी एंड प्रैक्टिस) को आत्मसात कर आगे बढ़ना, अन्वेषण करना दोनों की अभीप्सा है। जहां अध्यात्म अनुत्तर विज्ञान है, वहां विज्ञान भी अंतिम सत्य (अल्टीमेट ट्रुथ) तक पहुंचने का साधन है।

आचार्यश्री तुलसी तो यहां तक मानते रहे हैं कि—

कोरी आध्यात्मिकता युग को प्राण नहीं दे पाएगी
कोरी वैज्ञानिकता युग को त्राण नहीं दे पाएगी
दोनों की प्रीति जुड़ेगी, युगधारा तभी मुड़ेगी
क्या-क्या पाना है पहले सोच लो।।

अध्यात्म और विज्ञान—दोनों एक-दूसरे के बिना अधूरे हैं, अपर्याप्त हैं—ऐसा आचार्यश्री तुलसी मानते थे। उन्होंने कहा—'विज्ञान के विकास से धार्मिक आस्थाएं खंडित या खत्म नहीं होंगी, बल्कि परिष्कृत और सुसंस्कृत होंगी। आध्यात्मिक महापुरुषों द्वारा प्रयुक्त योग-प्रयोगों को तकनीकी परीक्षण के कषोपल पर कसते हुए जब वैज्ञानिक उन्हें सत्यापित करेगा तो आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व की नई नस्ल पैदा हो सकेगी। व्यष्टि से समष्टि तक अमन और चैन की बंशी तभी बजेगी, इसमें कोई संशय नहीं है।'

महाकवि कालिदास ने लिखा है—**'पदे-पदे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयताया**—पग-पग पर जिसे नवीनता प्राप्त होती है, वही रमणीय रूप होता है।' आचार्यश्री तुलसी ने इस तथ्य को समझा तथा अपने जीवन में इसका भरपूर प्रयोग किया। उनकी जीवनशैली, कार्यशैली, चिंतनशैली, प्रवचनशैली, लेखनशैली, निर्माणशैली, संबोधशैली और बोध-प्रबोध इस बात के जीवंत प्रमाण हैं।

वे कहा करते थे—'प्रकाश की यात्रा करने वाला कोई भी व्यक्ति अपनी मुट्ठी में सूरज के बिंब लेकर नहीं जन्मता। अमृत की आकांक्षा रखने वाला कोई भी आदमी अगम्य लोकों में घर बसा कर नहीं रहता। ऊर्जा के अक्षय स्रोतों की खोज करने वाला मानव विरासत में प्राप्त तकनीक को मात्र आधार मान कर आत्मतोष की अनुभूति नहीं करता। प्रकाश उसे मिलता है, जो अपने भीतर के अंधेरे को मिटा देता है। अमृत उसे उपलब्ध होता है, जो अपने अंतःकरण के जहर को धो डालता है। सत्य-पथ पर वही यात्रायित होता है, जो नई लकीरें खींचने का साहस करता है तथा परंपरा की सरहदों से बाहर निकल कर आगे बढ़ने का माद्दा रखता है।'

इस कथन में कोई विप्रतिपत्ति नहीं कि आचार्यश्री तुलसी को नवीनता से अनुराग था। पर कब? जब तक मौलिकता सुरक्षित रहे। सिद्धांत को ताक पर रख कर नए को अंगीकृत करना उन्हें अभीष्ट नहीं था। नया पढ़ना, नया सुनना, नया सोचना और नया करने में उनकी सदा अभिरुचि रही। हर कार्य को नए तेवर में प्रस्तुत करना उन्हें बहुत प्रिय था। इसीलिए जब उनसे पूछा गया—'इक्कीसवीं सदी का मानव कैसा होगा?' नए मानव की उनकी कल्पना से कुछ लोगों को रोमांच हो सकता है। अपनी कल्पना के मानव का मॉडल प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा—'● नया मानव जातिवाद और संप्रदायवाद की सरहदों से मुक्त होगा। ● नया मानव अहिंसा के प्रति आस्थाशील होगा। वह हिंसा के हथियार को तीखा नहीं करेगा। ● नया मानव सांप्रदायिक नहीं, धार्मिक होगा। ● नया मानव लोकतंत्र की जड़ें काटेगा नहीं, वह उनको और अधिक गहराई तक पहुंचाएगा। ● नया मानव पर्यावरण को प्रदूषित नहीं करेगा, उसकी सुरक्षा के लिए जागरूक रहेगा। ● नया मानव नशे की गिरफ्त से मुक्त होगा। ● नया मानव अर्थ को जीवन का साधन मानेगा, उसे साध्य मान कर नहीं रुकेगा। ● नया मानव युगशैली के प्रवाह में नहीं बहेगा, उसकी सुचिंतित जीवनशैली होगी।'

वस्तुतः हर युग और हर समाज का अपना एक दर्शन होता है। इसी तरह हर व्यक्ति का भी अपना दर्शन होता है। दर्शन के बिना न धर्म जीवन को प्रभावित करता है, न राजनीति चलती है और न ही स्वस्थ समाज की संकल्पना साकार हो सकती है। अपने ही दर्शन और अपने ही चिंतन के साथ दस्तक देने वाला ही नवीन सामाजिक अन्वेषण में अग्रसर हो सकता है और आत्मसंतोष के अविरल सुख की अनुभूति कर सकता है। गुरुदेवश्री तुलसी ने इस सचाई को समझा, उन्होंने तदनुरूप पुरुषार्थ किया और एक नई जीवनशैली, एक नया 'मॉडल' प्रस्थापित कर दिया।

व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और यहां तक कि विश्व का सबल प्राण संस्कृति है। संस्कृति में शक्ति है,

ऊर्जा है। बिना संस्कृति के सबकुछ निराधार है, निष्प्राण है, निस्तेज है। संस्कृति यानी सम्+कृति=सम्यक् निर्माण। मनुष्यता की श्रेष्ठ साधना ही संस्कृति है। रामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—जैसे खेत से किसान तृणादि हटाता है, वैसे ही सज्जन जन अपने चित्त से क्रोध, मोह, मद, मान आदि को दूर करके जीवन का परिष्कार करते हैं। यही संस्कृति है। वस्तुतः संस्कृति के गर्भ में जीवनगत आचार, विचार, व्यवहार, संस्कार, विज्ञान, दर्शन, साहित्य, कला आदि तत्त्व अंतर्निहित हैं। प्राणीमात्र के कल्याण की भावना इसमें सन्निविष्ट है, यह कहा जाए तो शायद अत्युक्ति नहीं होगी। जीवन को परिभाषित करते हुए भारतीय संस्कृति के बारे में कहा गया है—

शांतं तुष्ट पवित्रं च सानंदमिति तत्वतः।
जीवनं जीवनं प्राहुः भारतीय सुसंस्कृती।।

शांति, संतोष, पवित्रता और आनंद जहां हिलोरें लेते हैं—वही जीवन वस्तुतः जीवन है। ऐसे जीवन का निर्माण कैसे हो? जिज्ञासा का यह स्वर उभरने पर बताया गया—'संयम से शांति, स्वतंत्रता से तोष, साधनशुद्धि से पवित्रता और स्वास्थ्य से आनंद की उपलब्धि होती है।'

आचार्यश्री तुलसी ने देखा कि आज हिंसा बढ़ रही है, आग्रह और अभिनिवेश की विषैली लताएं फैल रही हैं, अहं और आवेश की ज्वालाएं यत्र-तत्र सर्वत्र बढ़ती जा रही हैं, आतंक, दहशत और साजिशें जब-तब रची जाती रही हैं। उपभोक्तावाद तन-मन को क्लीव बना रहा है तथा अपराध का ऊंचा होता 'ग्राफ' समूचे व्यवस्था तंत्र को चुनौती दे रहा है। ऐसी भयावह स्थिति में जरूरी है कि **'संयमः खलु जीवनम्'** के घोष को बुलंद किया जाए। **'सर्वे भवंतु सुखिनः'** को आत्मसात करने के लिए **'सत्यं शिवं सुंदरं'** को प्रायोगिक रूप दिया जाए ताकि **'मित्ति मे सव्वभूएसु'** की भूमिका बन सके। हृदय-परिवर्तन और व्यवस्था-परिवर्तन के समुचित योग से ही सकारात्मक दृष्टिकोण का निर्माण हो सकेगा। तभी सद्संस्कारों के बीजारोपण की संभावना बनेगी और यह जीवन-पौध तभी पुष्पों-फलों से लहलहा सकेगी।

सांस्कृतिक मूल्यों के क्षरण को रोकने के लिए आचार्यश्री तुलसी ने युवक परिषद्, महिला मंडल, ज्ञानशाला, उपासक श्रेणी आदि अभिक्रमों की शुरुआत इसीलिए की। साथ ही जीवन और जगत को मंगलमय बनाने के लिए आचार्यश्री तुलसी ने कुछ ऐसे सूत्र दिए, जो उनकी महान सांस्कृतिक चेतना की ही अभिव्यक्ति हैं। जैसे—मनुष्य क्रूरता के स्थान पर करुणा का पाठ पढ़े, स्वार्थ के स्थान पर परमार्थ का पाठ पढ़े, अव्रत के स्थान पर व्रत का पाठ पढ़े, धर्मनिरपेक्षता के स्थान पर धर्मसापेक्षता का पाठ पढ़े, अलगाववाद और जातिवाद के स्थान पर भाईचारे का पाठ पढ़े, प्रांतवाद और भाषावाद के स्थान पर राष्ट्रीय एकता और मानवीयता का पाठ पढ़े, धर्म को राजनीति से पृथक रखने का पाठ पढ़े, राजनीति पर धर्म के नियंत्रण का पाठ पढ़े और अपनी ओर से किसी का अहित न करने का पाठ पढ़े।

आचार्यश्री तुलसी महान स्वप्नद्रष्टा थे। कल्पना और यथार्थ, सपना और सच, चिंतन और क्रियान्वयन में बहुत फासला होता है। इस सत्य से वे भिज्ञ थे, तथापि वे जानते थे कि दृढ़ अध्यवसाय, प्रचंड इच्छा-शक्ति, कठोर परिश्रम, नैरंतर्य और सच्ची लगन से दूरियों को पाटा जा सकता है। इसीलिए उन्होंने अपने जीवन में अनगिनत सपनों की सृष्टि की। सामान्यतया आदमी नींद में सपने देखता है, पर लगता है कि आचार्यश्री तुलसी ने जागृत अवस्था में भी सपने देखने शुरू कर दिए। एक सपना साकार होता, उससे पूर्व ही उनके दिलो-दिमाग में नया स्वप्न अंगड़ाई लेकर खड़ा हो जाता। उनके सृजनात्मक स्वप्नों का संसार बहुत विशाल है। तेरापंथ धर्मसंघ, संपूर्ण मनुष्य समाज, देश एवं विश्व के लिए नित-नए सपने देखना तथा उन्हें साकार करने के लिए जी तोड़ परिश्रम करना उनकी आदत बन गई।

धर्मसंघ का शैक्षणिक विकास, साहित्य-सृजन, साध्वी शिक्षा, साधु समाज की आचार संहिता, जैन विद्वान तैयार करना, जैन धर्म : विश्वधर्म, जैन एकता, आचार्यश्री भिक्षु के विचारों का युगीन भाषा में प्रस्तुतीकरण, लोक जीवन को समुन्नत बनाने के लिए विविध उपक्रम, दूरस्थ व नए प्रदेशों की यात्रा, सार्वजनिक संपर्क, पारमार्थिक शिक्षण संस्था, समणश्रेणी, स्वस्थ समाज संरचना, महिला जागरण, आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण आदि स्वप्न श्रृंखला की ऐसी कड़ियां हैं, जो उनके चेतन-अवचेतन तन-मन पर उभरीं, अज्ञात प्रेरणा से निर्मित हुईं, वैचारिक-विनिमय से परिदर्शित हुईं, अपेक्षा से उपजीं और परिस्थितियों से अस्तित्व में आईं। निमित्त चाहे वे स्वयं रहे हों या अन्य कोई। पर, इतना सुस्पष्ट है कि उनके

तेजोमय, प्रभावशाली, निर्मल और चौमुखी व्यक्तित्व ने आत्मोपयोगी और लोकोपयोगी ढेर सारे कार्य संपादित कर दिए। इस संदर्भ में उनकी आत्मकथा का पाठक ही पूरी जानकारियां बटोर सकता है तथा उनकी स्वप्निल दुनिया की सैर करके महानता के 'गुर' प्राप्त कर सकता है।

धर्म के क्षेत्र में जो क्रांति की लहर ला सके, वस्तुतः वह महान होता है। भारतीय जीवन में धर्म प्राण-तत्त्व है। यही कारण है कि गांव, ढाणी, कस्बा, नगर, शहर सर्वत्र धर्म की अनुगूंज सुनाई देती है। लोग मंदिर, मस्जिद, 'चर्च', गुरुद्वारा आदि धर्मस्थलों में श्रद्धालु बन कर जाते हैं, अपनी-अपनी विधि से पूजा-अर्चना करते हैं, मनौतियां मनाते हैं, प्रवचन सुनते हैं। अपनी विशुद्धि के लिए तप, जप, स्वाध्याय, भजन, कीर्तन आदि करते हैं, पर जब तक धर्म की आराधना-साधना मात्र रिवाजी पूजा-उपासना तक रहेगी तब तक व्यक्ति का आचरण और व्यवहार उससे प्रभावित नहीं होगा। जब तक वह धर्मस्थलों में रहेगा, तब तक धार्मिक दिखेगा और बाहर आते ही उसका मुखौटा बदल जाएगा। ऐसे तथाकथित धार्मिक न स्वयं का भला कर पाएंगे और न ही दूसरों का। गुरुदेवश्री तुलसी ने इस स्थिति को देखा और समझा और उनके क्रांतदर्शी चिंतन ने धर्म के नए स्वरूप को विश्लेषित किया। उन्होंने कहा—'जो धर्म मनुष्य को मनुष्य नहीं बना सकता, वह उसे देवता कैसे बनाएगा? पड़ोसी के साथ प्रेम से मिलना और रहना नहीं सिखाता, वह ईश्वर से मिलाने में कैसे सक्षम होगा?' यद्यपि वे एक धर्मसंघ के आचार्य थे, धर्मगुरु थे—तथापि उन्होंने स्पष्ट शब्दों में बहुत बार कहा—'मैं उस धर्म का पक्षपाती नहीं हूं जो केवल क्रियाकांडों तक सीमित है, जो जड़-उपासना से संबंधित है, जो अवस्था विशेष के बाद ही किया जाता है अथवा जिसमें अन्य सब कार्यों से निवृत्त होने की अपेक्षा रहती है। मेरी दृष्टि में धर्म है—जीवन का स्वभाव, शुद्ध आचार, शुद्ध विचार और सात्त्विक व्यवहार।'

आचार्यश्री तुलसी ने युवा बौद्धिक पीढ़ी की मानसिकता को भी समझा, उसके औचित्य को समझा और धर्मक्रांति का शंखनाद किया। उन्होंने पांच सूत्र प्रस्तुत किए—(1) धर्म बुद्धिगम्य हो, तर्कसंगत हो, परिणामदर्शी हो। तभी उसके प्रति रुझान पैदा हो सकता है। (2) धर्म केवल समय गुजारने या केवल सुनने के लिए नहीं, अपितु जीवन की प्रयोगशाला में परीक्षणीय तत्त्व है। धर्म से शांति, सुख और आनंद की उपलब्धि हो, तभी वह उपयोगी बन सकता है। (3) धर्म से व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय समस्याओं का समाधान हो, तभी वह वरेण्य होगा। (4) सामान्यतः स्वर्ग के प्रलोभन या नरक के भय से धर्माचरण किया जाता है। जो धर्म वर्तमान में जीना नहीं सिखाता, वर्तमान को प्रभावित नहीं करता—उससे आशा रखना दुराशा को आमंत्रित करने जैसा है। (5) अपनी परंपरा की चादर के प्रति आस्थावान रहते हुए जो धर्म सभी के प्रति समादर करता है, सद्भाव रखता है, सहिष्णुता का परिचय देता है—धर्म का जीवंत रूप वही है।

आचार्यश्री तुलसी ने धर्मक्रांति का जो शंखनाद किया उससे धार्मिक जनों में नवप्राणों का संचरण हुआ। चहुंमुखी विकास के लिए नित नए सपने देखे और अधिकांश को पूर्णता तक पहुंचा दिया। सांस्कृतिक मूल्यों के संरक्षण, संवर्धन के लिए अनेक आयाम उद्घाटित किए। बीसवीं सदी की सांध्य वेला में खड़े मानव को इक्कीसवीं सदी की अगवानी करने तथा नए दर्शन और नए चिंतन के साथ नए युग में प्रवेश करने की तरकीब बताई। अध्यात्म और विज्ञान की धारा एक साथ प्रवाहित हो सके—ऐसा हुनर समाज को प्रदान किया।

वे सर्वातिशय संपन्न थे। उनका अंतरंग और बहिरंग पक्ष अत्यंत समुज्ज्वल था। वे सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप—मोक्ष के चतुस्पथ पर सदा गतिशील रहे। उनमें चातुर्वर्ण्यम्—द्विज, क्षात्र, वैश्य और शूद्र वर्ग सन्निविष्ट था। वे श्रुतोपासना में सतत संलीन रहते। क्षात्रतेज उनके व्यवहार में परिदर्शित होता। सेवा को अपना आत्मधर्म समझ कर वे अंतिम क्षण तक कार्यरत रहे। आत्मनिष्ठा, संघनिष्ठा, आज्ञानिष्ठा, आचारनिष्ठा व मर्यादानिष्ठा के पंचामृत का पान कर वे स्वयं तो परितृप्त हुए ही; धर्म, जाति, वर्ण, वर्ग, लिंग में भेद किए बिना सदुपदेशों के द्वारा आत्मकल्याणकारी और लोककल्याणकारी सुधारस खुले हाथों, मुक्त मन से बांटा। उसी का सुपरिणाम है कि व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और पूरा विश्व उससे लाभान्वित हुआ। उन्होंने जो मूल्य-मानक स्थापित किए वे हमारे जीवन की विरासत बन गए। प्रवचन और लेखन के

माध्यम से जो विचार संप्रेषित किए—वे जन-जन के तन, मन और आत्मा को स्वस्थ बनाते गए। जिंदगी को खुशहाल बनाने के लिए जो स्वर्णमय सूत्र उन्होंने दिए, वे दिशासूचक यंत्र बन गए। जो प्रविधियां, प्रयोग और मानक स्थापित किए, वे मनुष्य की दिशा और दशा को बदलने में कारगर सिद्ध हुए। जिस पुनीत वेला में बालक तुलसी ने श्रमणत्व की धवल चादर ओढी, तब से ही वे महानता के सोपानों पर आरोहण करते रहे। उनकी आत्मकथा—'मेरा जीवन : मेरा दर्शन' में उल्लेख मिलता है कि आचार्यश्री कालूगणी राज की मंगल सन्निधि और दिशा-निर्देशन में मुनि·तुलसी की आत्माराधना और श्रुताराधना का जो क्रम प्रारंभ हुआ, वह अंतिम क्षण तक अनवरत जारी रहा। अनुभव का जो दीया प्रज्वलित हुआ—उससे यथासमय, यथासंभव, यथापेक्षा असंख्य-संख्य दीप जगमगा उठे। ❖

हे प्रभो ! यह तेरापंथ

जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा

(ISO 9001 : 2008 प्रमाणित संस्था)

3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001,

दूरभाष : 22357956, 22343598 फैक्स : 033 22343666

तेरापंथी सभा प्रतिनिधि सम्मेलन

दिनांक 20-21 व 22 अगस्त 2011, केलवा (राजस्थान)

जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा के तत्त्वावधान में और आचार्यश्री महाश्रमणजी के सान्निध्य एवं साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी के दिशा-निर्देशन में **तेरापंथी सभा प्रतिनिधि सम्मेलन 2011** का त्रिदिवसीय आयोजन दिनांक 20-21 व 22 अगस्त, 2011 को केलवा (राजस्थान) में आयोजित किया जा रहा है।

तेरापंथी सभाओं से चार अधिकृत प्रतिनिधि भेजने हेतु सादर निवेदन है। सभा के वरिष्ठ पदाधिकारियों की उपस्थिति सादर अत्यावश्यक है। इस सम्मेलन में संघीय व सामाजिक गतिविधियों के साथ-साथ प्रशिक्षण-मूलक कार्यक्रम आयोजित होंगे।

उक्त अवसर पर महासभा से 'एफिलिएटेड' तेरापंथी सभाओं में से निर्धारित अर्हताओं के आधार पर **श्रेष्ठ सभा** एवं **विशिष्ट सभा** का चयन भी किया जाएगा। सम्मेलन को सार्थक बनाने हेतु आपके सुझाव सादर आमंत्रित हैं।

अधिक जानकारी हेतु महासभा प्रधान कार्यालय कोलकाता से 033-22357956/22343598 नंबरों पर संपर्क किया जा सकता है।

भंवरलाल सिंघी
महामंत्री

चैनरूप चिंडालिया
अध्यक्ष

बुद्धू

अशोक सेकसरिया

बड़ी तृप्तिदायक, आत्ममुग्ध मानसिकता में उसने सोचा शाम वह नदी के किनारे जाएगा और वहां बेंच पर दो घंटे बैठेगा। एकाएक निर्णय कर पाने पर उसे खुशी हुई। अब वह बदल रहा है, जल्दी निर्णय कर लेता है, कोई पलायनवादी वाद सोचकर तुरंत मुक्ति पा लेता है। यह बदलना था या पराजय की स्वीकृति—यह जानने का कष्ट मोल लेना फिलहाल उसके वश का नहीं था। वह बहुत थका हुआ था और उसका अपने तईं फर्ज था कि वह खुद को बहलाए। ऐसा सोचते वक्त उसे लगा कि उसके भीतर कोई दूसरा आदमी बैठा है, जो इतना जानबूझ कर उसके बहलाव की बात सोच रहा है।

अस्पताल के एक अहाते से दूसरे अहाते जाते-आते उसके पांव दुख गए, पर रिपोर्ट नहीं मिली। मिलनी ही नहीं थी। कहा है—परसों मिलेगी, परसों फिर आना पड़ेगा। उसके शरीर में जान नहीं रह गई थी, कमीज पसीने से भीगी पड़ी थी और दिमाग, जो कभी भी नहीं था, एकदम उड़न-छू हो गया था। कोई बात समझ में नहीं आ रही थी। सिर्फ यही कि परसों फिर इसी तरह परेशान होना पड़ेगा। अपने को घसीटता हुआ वह जब अस्पताल के फाटक तक लाया, तो उसे इच्छा हुई कि इतमीनान से बीचोबीच बैठ जाए, हवड़ा पुल पर—जैसे वह पागल बैठा था। यह सोचने पर उसमें थोड़ी हलचल हुई। उसने सोच को आगे बढ़ाया कि बीचोबीच बैठ जाने से अस्पताल में आने वाली गाड़ियां फाटक पर रुक जाएंगी, जिनके फलस्वरूप सड़क पर 'ट्राफिक' जाम हो जाएगा, दस-पंद्रह मिनट हंगामा मचा रहेगा, पर यह खयाल भी आध घंटे पहले के स्वास्थ्य मंत्री को गोली से उड़ा देने के खयाल-सा अमलीजामा नहीं पहन सकता था।

हताशा में उसने सोचा, अगर कुश जिंदगी भर अपंग रह गया तो कौन-सा गजब हो जाएगा? कोई गजब नहीं होगा! पर, क्या होगा? कुछ भी नहीं। पर, क्या—कुछ तो होगा? वह खुद हाथ-पैर वाला होकर क्या तीर मार रहा है? अपने हाथ-पैरों को उसने झटके से देखा। वे मरे आदमी के माफिक लगे। उसे तसल्ली हुई—वह मर रहा है। बस, हे भगवान! कुश के बड़े होने के बहुत पहले, बहुत पहले उसकी मौत हो जाए। अपनी जेब में रखी रिपोर्ट की रसीद उसके हाथों में आ गई तो उसका मन हुआ कि रसीद को फाड़ दे। न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी, पर वह यमुना तीरे बांसुरी बजाता रहेगा। आत्मकरुणा की हलकी बयार आई, बचपन में कापी में लिखे गए सवालों को करने से बचने के लिए फाड़ देने की याद में उसको तड़प हुई, कि बच्चों की तरह बिलख-बिलख कर रोए। अपने से खेलते हुए उसने कहा, कितना सुहाना था—बचपन।

फाटक के बाहर निकलते ही उसने घड़ी देखी, पौने दस बज रहे थे। पंद्रह मिनट में वह टैक्सी बिना दफ्तर नहीं पहुंच सकता। उसे इस बात को पहले से सोचना चाहिए था। बस में इतनी भीड़ में लटकते जाने की कम से कम आज अस्पताल के चक्कर के बाद उसमें

तीन अंकों में समाप्य लंबी कहानी

ताकत नहीं थी। अपने में ताकत की कमी को पहले से जानने जितनी बुद्धि उसमें नहीं थी। सो उसने नहीं सोचा था कि दो घंटे इधर से उधर दौड़ाए जाने के बावजूद उसमें बस में लटकते जाने की ताकत नहीं रहेगी। टैक्सी का मतलब था—तीन रुपये। तीन रुपयों का आशय उसने अपने दिमाग में एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट किया। उसकी तनख्वाह का तिहाई हिस्सा। बात जोरदार नहीं बनी, तो उसने कहा—दिहाड़ी का तिहाई हिस्सा, पर कुछ भी नहीं हुआ, असलियत में एक छोटा-सा सूराख भी नहीं डला। तीन रुपये खर्च किए बिना तीन रुपयों का दुख उसे इतना ज्यादा होने लगा कि उसने सोचा दफ्तर में फोन कर दे, आज नहीं आ सकता। छुट्टी में कॉलेज स्ट्रीट के किसी चायखाने में चाय की चुस्कियां लेगा। 'चाय की चुस्की' मुहावरा उसे बहुत अश्लील और भोंडा लगता था। पर, अब वह अनायास उसकी जबान पर कैसे चढ़ गया? चढ़ गया, जैसे सब चढ़ते हैं। उसने दुगुनी अश्लीलता में सोचा। और, निरर्थक अब वह जैसा है—उससे आगे क्या कर सकता है, कुछ भी नहीं। एक मिनट में उसने अपनी कुढ़न से समझौता कर लिया और संयुक्त विज्ञप्ति में ऐलान किया कि आज का दिन वह आराम से बिताएगा, कुश अपंग रहे तो रहे, दफ्तर की नौकरी छूटे तो छूटे। इतनी जल्दी छूटेगी नहीं, वह जानता था।

बड़ी तृप्तिदायक, आत्ममुग्ध मानसिकता में उसने सोचा शाम वह नदी के किनारे जाएगा और वहां बेंच पर दो घंटे बैठेगा। एकाएक निर्णय कर पाने पर उसे खुशी हुई। अब वह बदल रहा है, जल्दी निर्णय कर लेता है, कोई पलायनवादी वाद सोचकर तुरंत मुक्ति पा लेता है। यह बदलना था या पराजय की स्वीकृति—यह जानने का कष्ट मोल लेना फिलहाल उसके वश का नहीं था। वह बहुत थका हुआ था और उसका अपने तईं फर्ज था कि वह खुद को बहलाए। ऐसा सोचते वक्त उसे लगा कि उसके भीतर कोई दूसरा आदमी बैठा है, जो इतना जानबूझ कर उसके बहलाव की बात सोच रहा है।

लोगों को अपने लिए नगण्य सुख-सुविधाओं के सामान जुटाते हुए देख वह सोचता था कि इतना ओछापन वे कैसे कर सकते हैं। जरूर उनके बीच कोई आदमी ऐसा बैठा है जो उन्हें यह बताता है कि तुम्हारा स्वार्थ इसमें है! बस में जब कोई आदमी उसे जानबूझ कर धूप वाली जगह देता, तब वह सोचता कि इतना घृणित काम कैसे किया जा सकता है? पर, ट्रेन में उसने खुद को लगभग ऐसे ही काम करते पकड़ा। पर, हर आदमी की तरह उसे अपना ओछापन भूला रहता। जब याद आता तो वह खुद को इतना पाखंडी लगने लगता कि उसकी दुनिया खत्म हो जाती। दुनिया कहीं खत्म भी हो गई थी, बचपन में रेल के फाटक की तरह। पिपरमिंट की गोली पर पानी पी कर रेल के फाटक तक वह जाता था और लौट आता था। रेल के फाटक के पार या तो बहुत घना जंगल है, या शून्य। उसने कहीं धरती आकाश के एक होने की बात सुनी थी और उसने मन में दर्ज कर लिया था, रेल के फाटक के पार धरती और आकाश एक हो गए हैं और वहां कोई नहीं जा सकता, भगवान भी नहीं।

अब बहुत बड़ा आकाश जितना होने पर आत्मरति के कातर या मार्मिक क्षणों में वह अपने सिर के पीछे प्रभामंडल लगा लेता था और उसकी दीप्ति में जगमग संसार बनाता था, तो रेल के फाटक की बात कई बार याद आई थी। और, उसने प्रतीक रूप में इसे अपने दिमाग में शिलालेख बना लिया था, जिस पर वह बड़े प्रेम से हाथ फेरता। बहुत भुलाने की कोशिश करने पर भी उसे याद आता रहता कि बचपन में वह जब सपने में राम या कृष्ण को देखता तो दूसरे दिन सुबह उठते ही सिर के पीछे प्रभामंडल ढूंढ़ता। चित्रों में हर भक्त के सिर के पीछे प्रभामंडल होता था, सो अगर उसने सचमुच में भगवान के दर्शन किए हैं, तो उसके सिर के पीछे प्रभामंडल लगा होगा। कभी जब कोई उसे 'विनम्र' कहता तो उसके मन में आता कि उसे बताए कि उसमें कितना अहंकार है।

अपने बारे में जो सोचता हुआ, वह सब कुछ बिसूर रहा था। चाबुक पड़ने-सा उसने सोचने की कोशिश की कि वह क्या धीरे-धीरे कुश के अपंग रह जाने की असलियत से उदासीन हो रहा है? अगर वह हो गया तो क्या होगा? कुंभीपाक नर्क में भी उसका स्थान न होगा। वह कुश के प्रति उदासीन नहीं हो सकता, इतना गया-बीता होना उसके स्वभाव में नहीं। पर, कहीं अपना यह सोचना उसे वैसा ही लगा जैसे चापलूस लोग कहते हैं कि क्या करें, हम आगे नहीं बढ़ सकते, क्योंकि चापलूसी हम

से लाख कोशिश करने के बावजूद नहीं हो पाती। नहीं, वह इतना झूठा नहीं है। झूठा है, पर कम। अपनी आशंका के बावजूद उसे कोई मणि हाथ में आई लगी। वह कुश के प्रति उदासीन नहीं हो सकता। परसों भी वह परेशान होगा, पर आएगा जरूर। उसने दूर देखा, दस साल से ज्यादा वह नहीं देख सका। दूरदर्शी नहीं हूं, तुक में और थोड़े आनंद में उसने सोचा। दस साल के बाद क्या होगा, इसकी क्षीण कल्पना भी नहीं हुई। सिर्फ यही कि वह चालीस पार कर जाएगा और उसकी ताकत और भी घट जाएगी। दस साल तक वह कुश के लिए मरता-पचता रहेगा। अतिरिक्त आमदनी की घिनौनी कोशिशें करता रहेगा कि वह कुश के प्रति उदासीन नहीं हुआ।

परेशानी ही उसकी उदासीनता को रद्द कर देने वाली व्यवस्था थी। हिंदुस्तान में, उसने सोचा, यही तराजू है—जिसके सहारे आदमी सोच सकता है कि वह एकदम मरा नहीं। अपनी परेशानी का 'काव्यशास्त्र' ढूंढ़ लेने के बाद उसने उसमें टिप्पणी जोड़ी कि आत्मभर्त्सना भी एक अनिवार्यता है, जिसके बिना कम से कम हिंदुस्तान में यह लगता है कि जीवन छूट गया है। आत्मभर्त्सना के बिना बेमानी हिंदुस्तानी जिंदगी में कुछ भी भागा नहीं रह जाएगा। वह आत्मभर्त्सना की वकालत करने लगा और अखबारों में पढ़ी अनिवार्यताएं और आवश्यकताएं सब इससे जुड़ गईं। क्या सच है और क्या झूठ, किसने जाना है? किसी ने नहीं। और, उसकी भी क्या बिसात? सब कुछ सदृश्य है, जिसके भीतर है आत्मरति का जगमग संसार। केवल अपने बारे में सोच-सोच मैं मर जाऊंगा और कुछ भी नहीं कर पाऊंगा। ऐ गमे दिल कहीं और चल, जहां सुबह-शाम न हो और, और पता नहीं क्या न हो, उसने अपने छोटे-से दिमाग को बेपेंदे लोटे-सा लुढ़कने दिया।

वह किसी चायखाने की तलाश करने लगा। यूनिवर्सिटी का वह चायखाना, जहां हम बैठा करते थे, कितनी बहसें किया करते थे और यूनिवर्सिटी छूट जाने के बाद जो मन में नालंदा जितना महान और गरिमामय हो गया था—किसी स्वर्णयुग जैसा, अब नहीं रह गया था। उसको नई इमारतों ने खा लिया था, आदिम सभ्यता को कृत्रिम सभ्यता ने ढांप लिया था। इतिहास की अधकचराहट और एल. मुखर्जी के नोटों की दीप्ति में उसने चायखाने की कब्र पर दो आंसू बहाए और तू न सही तो कोई और के 'सस्तेपन' में कोई दूसरा चायखाना तलाश करने लगा। पर, कोई चायखाना ठीक नहीं लगा।

तब सोचा कि क्यों न 'अमजदिया' जाए। वह भी तो महान गरिमामय है। उसे याद आया कि अमजदिया में 'खिलाफ़त कमेटी' का एक कमरा है। इस कमरे को उसने अपनी एक महान खोज के रूप में दोस्तों के सामने पेश किया था कि इतने दिन बीत गए पर 'खिलाफत आंदोलन' अभी भी कलकत्ता में जिंदा है। दंगों के दिन जब वह बहुत छोटा था, तब 'अमन कमेटी' के सिलसिले में एक मुस्लिमलीगी उसके पिता के पास रोज आया करता था। इस मुस्लिमलीगी को वह घर में नहीं घुसने देना चाहता था और उसने अपने पिता से कहा था कि जो कुछ भी हो, पर मुस्लिमलीगी के साथ संबंध तो एकदम गलत है। तो पिता ने कहा था कि तुम इस आदमी को नहीं जानते, इसके साथ हमने 'खिलाफत' के वक्त काम किया है। उस वक्त बात समझ में नहीं आई थी, पर सात-आठ साल बाद हिंदू-मुसलमान एकता के अपने प्रयत्नों के दौरान जब वह अतिरिक्त उत्साह में 'अमजदिया' जाने लगा और उसने 'खिलाफ़त कमेटी' का कमरा देखा तो उसे बात समझ में आई और लगा कि उसका कोई स्कूली दोस्त बहुत बरसों के बाद अगर उसके पास किसी काम से आएगा तो वह भी उसके लिए उन दिनों की स्मृति में गलत-सही, जो काम वह करने को कहेगा, करेगा।

उसका जड़ दिमाग परेशानी और चिंता से मुक्त होकर आत्ममुग्धता की शीतलधारा में प्रवाहित होने लगा। उसने एकदम चेतन हो, उसे प्रवाहित होने दिया। आत्मकरुणा में उसने सोचा, बहुत चिंता कर ली, अब मन को मनोहर दृश्यों में भुलाओ—राजकुमार। राजकुमार वाली बात एक पल अटक गई, विपरीत दिशा में उसने सोचा, वह कितना बच्चा रह गया है। अभी भी किस्से-कहानियों की दुनिया से दूर नहीं हुआ है और दिमाग तो उसका एकदम पुराना है। अभी भी यही स्थितियां मन में लाता है, जो नाटकीय ढंग से साहित्यिक मूल्यहीन नाटकों, उपन्यासों और कहानियों में होती हैं। ❖ (क्रमशः)

(शेष अगले अंक में)

श्रीकांत वर्मा की कविताएं

•

अश्वघोष

बंधु अश्वघोष
मैं समझा नहीं मतलब
मैंने जिसके चेहरे पर हंसी देखी थी
उसी को
बिलखता देख रहा हूं,
जिसे सुना था गर्व से
कहीं,
विपुल है, सुख।
देख रहा हूं वही
शोकाकुल
लौट रहा है।
मैं समझा नहीं मतलब।
सुनो बंधु,
मैं अश्वघोष नहीं,
मैं वही हूं
तुमने जिसके चेहरे पर
हंसी देखी थी,
फिर उसी को देखा बिसूरते,
जो गर्व से कहता था,

सुखी हूं
फिर कहने लगा,
धोखा था।
मैं वही हूं और अगर मैं अश्वघोष भी होता
तो क्या होता?

यहां के लोगों की यही तो खूबी है
ये सीढ़ियों पर चढ़ते हुए
हंसते हैं,
ठठाते हैं,
सीढ़ियां उतरते हुए
आंसू बहाते हैं
कभी स्वयं को
कभी सीढ़ियों को
गरियाते हैं।

यहां के लोगों का कहना है कि
यहां के लोगों की यही तो विशेषता है
वे जन्म लेते हैं, चहचहाते हैं,
आंखें लड़ाते हैं,
चौसर बिछाते
जब तक वे लिप्त हों,
कैसी विडंबना है मित्र,
जब तक वे लिप्त हों
तब तक अवधि समाप्त,
वे चौसर उठाते हैं,
आतंकित होते,
घबराते हैं,
यह पूछने के बदले मैं कौन हूं?
वे हर आने-जाने वाले से
पूछते हैं, कौन हो तुम? कौन?
हड़बड़ाते हैं।
लड़खड़ाते हैं,
दरवाजे भड़भड़ाते हैं।

अब तुम्हीं सोचो,
मैं नहीं होता अश्वघोष,
तो क्या तुमसे नहीं पूछता,
कौन हो तुम?

•

उत्तराधिकार

कुछ भी नहीं याद
केवल रामायण की पोथी पर जमी हुई धूल-सा इकट्ठा है
मन पर पुरखों का अवसाद।

❖

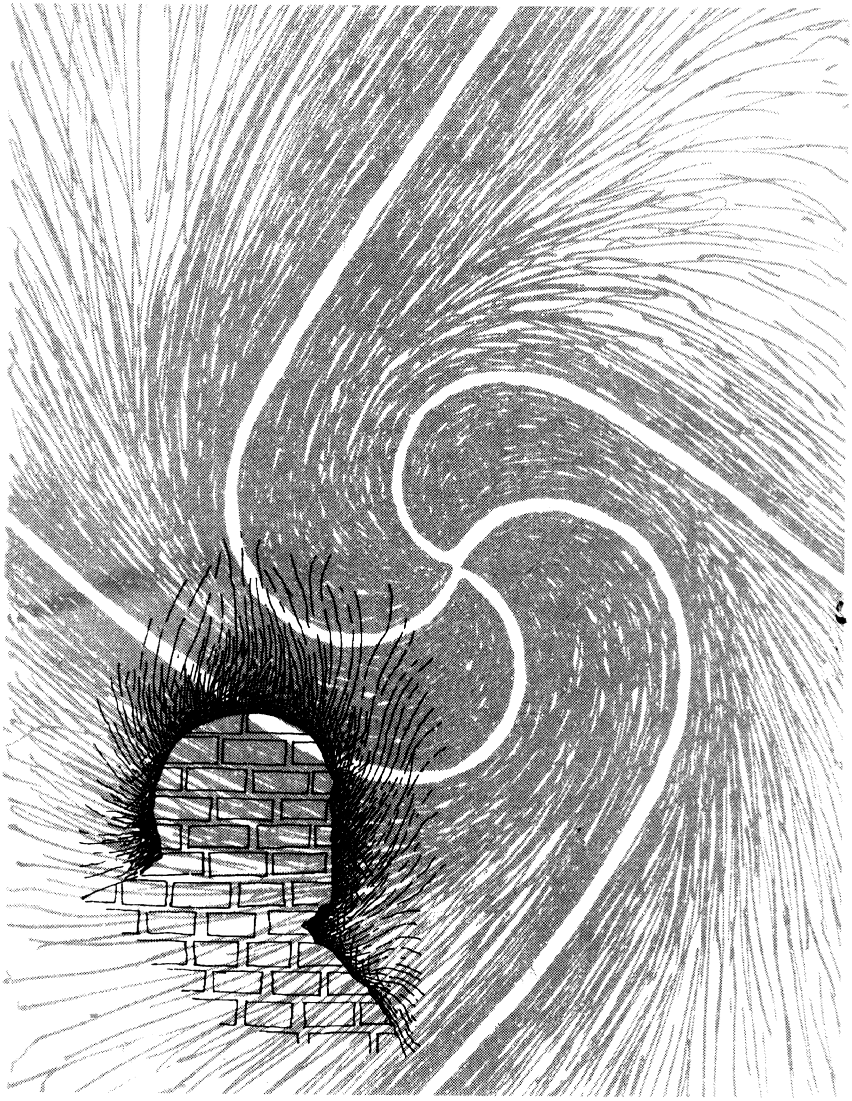

शीलन

अस्तेय और अपरिग्रह के बीच बहुत कम भेद है। जिसकी हमें आज आवश्यकता नहीं है, उसे भविष्य के विचार से संग्रह करके रखना परिग्रह है। परमेश्वर पर विश्वास रखने वाला यह मानता है कि जब जिस वस्तु की स्पष्ट आवश्यकता होगी, तब वह मिल ही जाएगी। इस कारण वह किसी संग्रह की उपाधि में पड़ता ही नहीं।

—**कि. घ. मशरूवाला**

गांधी विचार दोहन से

विधि-निषेध के सम्यक् प्रशिक्षक श्रुत संपदा के दुर्लभ नियोजक

❁ साध्वी शुभ्रयशा ❁

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी अध्यात्म संपन्न, प्रज्ञा संपन्न और व्यवहार संपन्न आचार्य थे। आप शिष्यों को विधि-निषेध का सम्यक् प्रशिक्षण देते थे और किस शिष्य की क्या और कितनी आवश्यकता है, किस पर कड़ाई से अनुशासन किया जाए और किसे छूट दी जाए—इस तथ्य से वे बखूबी परिचित थे। शास्त्रीय व सांप्रदायिक मर्यादाओं का पालन करने वालों को आप समय-समय पर प्रोत्साहित करते, तो सामाचारी का सम्यक् पालन न करने वालों को अनुशासन की डोर से भी बांधे रखते। यदि कोई मूल-मर्यादा के पालन में प्रमाद करता—तो लाल आंख भी दिखाते। संघ की श्रीवृद्धि में आपका इहलोक हितकारी पक्ष प्रबल था। शिष्यों के शिक्षण, प्रशिक्षण, चिकित्सा व अन्यान्य आवश्यक व्यवस्थाएं उससे स्वतः ही फलित हो जाती थीं।

कोई नौ दशक पूर्व जिस दिव्य ज्योति का इस लोक में अवतरण हुआ, उस ज्योति ने अपनी आंतरिक शक्तियों का प्रस्फोटन कर एक महाज्योति का रूप ग्रहण कर लिया था। इस महाज्योति ने मानवता के अंतःकरण के अंधकार को लीलने के लिए पुरुषार्थ किया और तनावों से बढ़ते तापमान को कम करने के लिए 'प्रेक्षाध्यान' का सघन प्रशिक्षण दिया। इसी महाज्योति ने चंचलता के सागर में लहराते मन को संयम और शांति का संदेश दिया, तो क्रोध और अहंकार जैसे संवेगों को शांत करने तथा 'रिजनिंग माइंड' को शक्तिशाली बनाने के लिए विविध प्रयोग बतलाए। यह महाज्योति कोई और नहीं, परम पावन आचार्यश्री महाप्रज्ञजी थे।

उस महामानव का मस्तिष्क बहुत विलक्षण था। उस महामानव के मस्तिष्क के दोनों गोलार्द्ध संतुलित थे और इन गोलार्द्धों में प्रवाहित होने वाले 'ग्रेमेटर' और 'वाइटमेटर' की गत्यात्मकता भी लयबद्ध थी। इसीलिए उस महायोगी के 'न्यूरोंस' संवेदनशील थे, सृजनशील थे और समन्वयशील थे। मस्तिष्क के प्रत्येक खंड की क्षमताएं व उनका तालमेल भी अनूठा था। अतींद्रिय क्षमता के धनी इस महर्षि की परख गजब की थी और नियोजन कला भी बेजोड़ थी।

व्यवहारभाष्य[1] में आचार्य को दुर्लभ नियोजक कहा गया है। जो शिष्य, जिस अर्हता से संपन्न होता है—यदि आचार्य उस शिष्य को तदनुरूप कार्य में संलग्न करते हैं, तो उसकी क्षमताएं उजागर हो सकती हैं और उसके विकास का 'ग्राफ' ऊंचा उठ सकता है। इस दृष्टि से आचार्यश्री महाप्रज्ञजी अपने शिष्य समुदाय की अर्हता का सम्यक्

महाप्रज्ञ : ९२वां जन्म दिवस : प्रज्ञा दिवस
आषाढ़ कृष्णा त्रयोदशी : 29 जून
हर्षाभिवादन

नियोजन करने के प्रति सदैव जागरूक रहे। वे इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि जो मुनि जीवनविज्ञान का कार्य करने में कुशल है, उसे यदि उपकरण वितरण की व्यवस्था में नियोजित किया जाएगा, तो वह उस कार्य का दक्षता के साथ निर्वाह नहीं कर सकेगा। इसीलिए उन्होंने पटुचारक को ग्लान की सेवा में नियोजित किया तो अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान व अन्यान्य क्षमताओं के अनुरूप शिष्यों को उन-उन कार्यों में नियुक्त किया। ऐसा करने से दोहरे लाभ की प्राप्ति हुई और संघ का चहुंमुखी विकास भी हुआ। इतिहास बोलता है कि श्रीमद् जयाचार्यश्री अपने विनीत शिष्यों का भरी परिषद में गुणानुवाद करते थे, उसी तरह आप भी अपने अधिष्ठाता की दृष्टि की आराधना करने वाले श्रमण-श्रमणी व समणी वर्ग का कई बार उल्लेख किया करते थे। इससे शिष्यों को मानसिक संपोषण मिलता और वे दृढ़ निष्ठा के साथ जागरूकतापूर्वक अपने दायित्वों का निर्वहन करते। किसी दीपक को प्रज्वलित रखने के लिए तेल-बाती की व्यवस्था करनी होती है—आचार्यश्री महाप्रज्ञजी उसमें सिद्धहस्त थे। एक कुशल नियोजक के रूप में वे अपने शिष्यों में प्रेरणा तथा प्रोत्साहन के सबल आधार माने जाते थे।

श्रुतसंपदा के धनी—आचार्यश्री महाप्रज्ञजी श्रुत-मंदाकिनी को प्रवाहित करने वाले विरल श्रुत-पुरुष थे। अपने जीवनकाल में जहां उन्होंने श्रुत की आराधना की, वहीं भगवान महावीर की वाणी को आधुनिक संदर्भों में वैज्ञानिकता के साथ व्याख्यायित भी किया। इसीलिए आप द्वारा संपादित आगमों को पढ़ कर हर कोई आपका प्रशंसक बन गया।

दशाश्रुतस्कंध में श्रुतसंपदा के चार प्रकार बतलाए हैं[2]—(1) बहुश्रुत, (2) परिचितश्रुत, (3) विचित्रश्रुत, (4) घोष विशुद्धिकारक[3]। व्यवहारभाष्य में भी इनका विशद विवेचन है। **बहुश्रुत** वह होता है, जिसे अंगप्रविष्ट और अंगबाध का ज्ञान हो, युगप्रधान हो और जिसके चारित्रपर्यव निर्मल हों। आचारांग भाष्य की भूमिका में गुरुदेवश्री तुलसी लिखते हैं—'इन्होंने (आचार्य महाप्रज्ञ) चूर्णि और वृत्ति से हट कर अनेक शब्दों, पदों और सूत्रों का सर्वथा नया अर्थ किया है। यह अर्थ कल्पित नहीं, किंतु सूत्रगत गहराई में पैठने की सूक्ष्ममेधा से प्राप्त है।[4]

आयारो में सम्यक्त्व अध्ययन का एक सूक्त है—**विगिंच कोह्न अविकंपमाणे, इम्र णिरूद्धाउयं संपेहाए**[5]। चूर्णिकार व वृत्तिकार ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है—'आयु सीमित है—यह संप्रेक्षा कर, क्रोध को दूर कर।' आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने इसकी व्याख्या भिन्न प्रकार से की है—'क्रोध की कालावधि सीमित है'—यह संप्रेक्षा कर[6]। यह व्याख्या अधिक संगत लगती है, क्योंकि यहां मनुष्य के आयुष्य का प्रसंग प्रकरणगत नहीं है, अध्याहृत है। प्रसंग क्रोध का चल रहा था और क्रोध शाश्वत नहीं, क्षणिक होता है। इसलिए इसे दूर किया जा सकता है। आगम विषयक जिज्ञासा लेकर कोई मुनि, साध्वी या समणी आपके उपपात में पहुंचते, तो आप तत्काल उनका समाधान देते। आपके चरित्रपर्यव बहुत निर्मल थे। घंटों-घंटों आपकी मौन उपासना करने वाले भी आनंद से आपूरित हो जाते। आज विज्ञान भी इस बात को मानता है कि जिसका आभामंडल पवित्र होता है, उसके चारों ओर 'अल्फा' तरंगों का एक वलय बन जाता है और वे तरंगें परिपार्श्व को आनंद व शांति से भर देती हैं। चूंकि आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के चारित्रपर्यव निर्मल थे, आभावलय पवित्र था—इसलिए पुनीत तरंगों का भी आस-पास संप्रेषण होता रहता था।

जो अपने नाम की तरह श्रुत से परिचित हो वह **परिचितश्रुतधारक** कहलाता है। क्रम, उत्क्रम के विविध प्रकारों से श्रुत परावर्तन में जो दक्ष हो—वह परिचितश्रुतधारक माना जाता है। आगम संपादन काल में बार-बार आगमों का अध्ययन करने से आगमों की विषय वस्तु आपके लिए हस्तकमलवत थी। आपश्री की सन्निधि में बैठ कर ज्ञान-कणों को बटोरते हुए बहुत बार यह अनुभव किया कि आगमों के व्याख्या ग्रंथों के विषय भी आपके स्मृति-पटल पर अंकित रहते। किस आगम में कौन-सी बात किस संदर्भ में कही गई है—आप उसे तत्काल बता देते। कभी-कभी तो आप पुस्तकों के पृष्ठ भी बता देते और शोधार्थी को वह विषय उसी स्थान पर प्राप्त हो जाता। आप केवल सूत्र का अर्थ-बोध ही नहीं देते, उसके हार्द तक पहुंचते और समग्रता से उसका विवेचन करते। ऐसा विवेचन **परिचितश्रुतधारक** श्रुतधर ही कर सकता है।

जो स्वसमय, परसमय और वक्तृत्वता में निपुण हो तथा उत्सर्ग, अपवाद आदि की विचित्रता का ज्ञाता हो—वह **विचित्रश्रुतधारक** कहलाता है। आचार्यश्री

महाप्रज्ञजी की श्रुतधारण मेधाशक्ति विचित्र थी। तेरापंथ धर्मसंघ में जो सामयिक परिवर्तन हुए, संघीय व्यवस्थाएं सुगम हुईं, उसमें आपकी **विचित्र श्रुतधरता** ने बड़ी भूमिका निभाई। सूत्रों के विधि-निषेध के ज्ञाता होने से आपने चूहे-बिल्ली वाले तेरापंथ को युगीन पहचान दी। आचार्यश्री तुलसी एवं आपके सकारात्मक प्रयत्नों से बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में तेरापंथ को जैन धर्म का पर्याय माना जाने लगा।

'एत्थोवरए तं झोसमाणे अयं संधी त्ति अदक्खू'[7]—प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'संधि' शब्द की विभिन्न कोणों से व्याख्या स्वसमय और परसमय का ज्ञाता ही कर सकता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के अनुसार 'संधि' शब्द के दो अर्थ है—(1) अतींद्रिय चेतना के उदय में हेतुभूत कर्मविवर। (2) प्रमाद के अध्यवसाय को जोड़ने वाला शरीरवर्ती साधन, जिसे चैतन्य केंद्र कहा जाता है[8]। संधि शब्द के अर्थ की पुष्टि के लिए आपने निम्नोक्त प्रमाण भी प्रस्तुत किए हैं—(1) आचारांग चूर्णि, (2) आचारांग वृत्ति, (3) नंदी चूर्णि, (4) सुश्रुतसंहिता, (5) चरकसंहिता, (6) शिवसंहिता, (7) शिवस्वरोदय, (8) षट्खंडागम, (9) स्याद्वादमंजरी, (10) आप्टे।[9] आचारांग भाष्य में 'संधि' शब्द की ऐसी विवेचना **विचित्रश्रुतधारी** आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की महत्ता को उजागर करती है।

जिसका घोष उदात्त, अनुदात्त और स्वरित से विशुद्ध हो, जो शिष्यों को सूत्र का स्पष्ट उच्चारण कराने में कुशल हो—वह **घोषविशुद्धि श्रुतधारक** कहलाता है। श्रुतसंपन्न आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की घोषविशुद्धि एक महत्त्वपूर्ण विशेषता थी। 'संस्कार चैनल' पर सुनने वाले लाखों-करोड़ों लोग इसके साक्षी हैं। नब्बे वर्ष से भी अधिक की अवस्था में उच्चारण की इतनी स्पष्टता एक विरल बात है। आपका अंतिम प्रवचन (9 मई, 2010) सुनने वालों के श्रुतिपट इसके स्वयं-साक्षी हैं। प्रवचनशैली में स्वरों का प्रभावक आरोह-अवरोह और धाराप्रवाह उदात्त प्रवचनशैली श्रोता को मंत्र-मुग्ध करने वाली होती थी।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी **उभयलोक हितकारी** थे। व्यवहारभाष्य में इहलोक-परलोक हितकारी आचार्य के संदर्भ में चतुर्भंगी का निर्देश है—(1) इहलोक हितकारी, परलोक अहितकारी। (2) परलोक हितकारी, इहलोक अहितकारी। (3) उभयलोक हितकारी तथा (4) उभयलोक अहितकारी[10]। उभयलोक हितकारी से तात्पर्य है—जो आचार्य शिष्यों के भरण-पोषण की विधिपूर्वक पूर्ति करते हैं, संयम योगों में प्रमाद होने पर सारणा-वारणा करते हैं। समय-समय पर प्रेरक दीप बन शिष्यों का पथ प्रशस्त करते हैं। उभयलोक अहितकारी से तात्पर्य है—जो आचार्य शिष्यों के भक्त-पान वस्त्रादि की समुचित व्यवस्था नहीं करते और न ही सारणा-वारणा करते हैं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी अध्यात्म संपन्न, प्रज्ञा संपन्न और व्यवहार संपन्न आचार्य थे। आप शिष्यों को विधि-निषेध का सम्यक् प्रशिक्षण देते थे और किस शिष्य की क्या और कितनी आवश्यकता है, किस पर कड़ाई से अनुशासन किया जाए और किसे छूट दी जाए—इस तथ्य से वे बखूबी परिचित थे। शास्त्रीय व सांप्रदायिक मर्यादाओं का पालन करने वालों को आप समय-समय पर प्रोत्साहित करते, तो सामाचारी का सम्यक् पालन न करने वालों को अनुशासन की डोर से भी बांधे रखते। यदि कोई मूल-मर्यादा के पालन में प्रमाद करता—तो लाल आंख भी दिखाते। संघ की श्रीवृद्धि में आपका इहलोक हितकारी पक्ष प्रबल था। शिष्यों के शिक्षण, प्रशिक्षण, चिकित्सा व अन्यान्य आवश्यक व्यवस्थाएं उससे स्वतः ही फलित हो जाती थीं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के दुर्लभ नियोजकत्व, श्रुत-साधना तथा उभयलोक हितकारी आराधना के इस क्रम में उनके सक्षम पट्टधर आर्यवर आचार्यश्री महाश्रमणजी की अनुशासना भी अहर्निश आत्मानंद की श्रीवृद्धि करने वाली सिद्ध हो रही है। उनका श्रमण-श्रमणी परिवार व्यवहारनय की अपेक्षा निश्चयनय की साधना करते हुए आगे बढ़ते रहेंगे, यह सभी के लिए काम्य है। ❖

संदर्भ :

1. व्यवहारभाष्य गाथा, 1411, 1412/ **2.** दशाश्रुत स्कन्ध, 4-5/ **3.** व्यवहारभाष्य गाथा, 4088-4090/ **4.** आचारांग भाष्य भूमिका, पृष्ठ 24/ **5.** आचारांग सूत्र, 4-34/ **6.** आचारांग भाष्य, पृष्ठ 223/ **7.** आचारांग सूत्र, 5-20/ **8.** आचारांग भाष्य, पृष्ठ 246/ **9.** आचारांग भाष्य, पृष्ठ 246-247/ **10.** व्यवहारभाष्य गाथा, 568 ❖❖

लालसाओं का सीमांकन करें : पर्यावरण संरक्षण के लिए

❁ समणी डॉ. हिमप्रज्ञा ❁

लालसाओं का सीमांकन पर्यावरण का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। उपभोग का संयम करने वाला ही पर्यावरण की समस्या को सुलझा सकता है। अखिल विश्व में उपभोक्ता अधिक हैं और पदार्थ सीमित हैं। पदार्थों की कमी के कारण ही प्रकृति का अतिमात्रा में दोहन होता है। प्रकृति के इस अत्यधिक दोहन से ही भूकंप, बाढ़ अथवा दूसरी समस्याएं उत्तरोत्तर बढ़ रही हैं। प्रकृति के विनाश का तात्पर्य है, मानव का विनाश। प्रकृति के असीमित दोहन से पदार्थ तो सिकुड़ते ही हैं, भावी पीढ़ी के लिए भी इससे भारी संकट पैदा होता है। अणुव्रत के छोटे-छोटे सूत्र संकट से बचने का सरल उपाय हैं।

मनुष्य और पर्यावरण के बीच सदा ही गहरा संबंध रहा है। पर्यावरण से भिन्न मनुष्य के जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतः पर्यावरण की सुरक्षा करना मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है। पर, दुर्भाग्य है कि मनुष्य समाज का एक बड़ा वर्ग इस ओर सचेष्ट नहीं है और प्रभु-वर्ग की चिंता कथित विकास की होड़ में शरीक रहना है। प्राचीन समय में मनुष्य संयम व सादगी का जीवन जीता था और पर्यावरण संबंधी समस्याएं नगण्य थीं। वर्तमान समय में पर्यावरण की समस्याएं दिनो-दिन बढ़ रही हैं। समस्या का मुख्य कारण है, आज व्यक्ति सुविधा-भोगी होता जा रहा है और वर्तमान प्रौद्योगिकी ने उसे ऐसे साधन भी सुलभ करा दिए हैं।

सुविधावाद और विकास की अंधी दौड़

आज विश्व के किसी भी कोने में इधर से उधर आना-जाना द्रुत गति से संभव हो गया है। ठीक इसी के साथ विषमता, अनियंत्रण और असंतोष के कारण समस्याओं का ओर-छोर भी दृग्गोचर नहीं हो रहा है। बढ़ती हुई प्रगति ने प्रकृति की सीमा को लांघ दिया है। पीने के लिए शुद्ध जल और खाने के लिए शुद्ध अन्न भी उपलब्ध नहीं हो रहे हैं। अतिमात्रा में प्रकृति के साथ छेड़छाड़ ने असंतुलन को जन्म दिया है, जबकि संतुलन के लिए सृष्टि के साथ तादात्म्य आवश्यक है। तादात्म्य के अभाव में भयानक विनाश की संभावनाएं प्रतिक्षण मुंह बाए खड़ी हैं। संतुलन बनाए रखने के लिए कतिपय आधार-भूत तत्त्वों की जानकारी आवश्यक है। सृष्टि-संतुलन के आधारभूत तत्त्व—भूमि, हवा, पानी और वनस्पति हैं। इन तत्त्वों में असंतुलन होने से प्रदूषण बढ़ता है। असंतुलन के निम्नांकित कारण हो सकते हैं—1. भूमि से खनिज पदार्थों का अतिमात्रा में दोहन। 2. पानी में रासायनिक द्रव्यों का घोल। 3. कारखानों की चिमनियों से उठने वाला धुआं। 4. वनों की अंधाधुंध कटाई।

भूमि : खनिज पदार्थों का दोहन

मनुष्य अपनी सुविधा के लिए और अति लालसा के वशीभूत होकर भूमि का बेजा दोहन कर रहा है। पेट्रोल और गैस का, धातुओं या कोयलों का इतना अधिक उत्खनन हो रहा है कि आने वाले सौ-दो सौ वर्षों

5 जून
❑ विश्व पर्यावरण दिवस विशेष ❑

के बाद भूमि की क्या स्थिति रहेगी, कुछ कहा नहीं जा सकता। जिस गति से आज भूमि का दोहन हो रहा है, यदि यही गति बनी रही तो इस शताब्दी के अंत तक अनेक भंडार समाप्त होने की संभावना की जा रही है। इससे गहरी विषमता पैदा हो सकती है। अंततः यह लाइलाज रूप ले सकता है।

पानी : रासायनिक द्रव्यों का घोल

एक ओर पीने के पानी का भारी अभाव, दूसरी ओर पानी में रासायनिकों से निरंतर बढ़ रहा प्रदूषण—आमजन पर दोहरी मार है। रासायनिक द्रव्य मानव स्वास्थ्य पर सीधा प्रभाव डालते हैं। इससे अनेक प्रकार की बीमारियां उत्पन्न हो सकती हैं। इन बीमारियों में टायफाइड, पीलिया, हैजा, अतिसार और अपच आदि प्रमुख हैं।

चिमनियां : उठ रहा धुआं

कारखानों की चिमनियों से निरंतर धुआं उठता रहता है, जिसका सीधा प्रभाव वायुमंडल पर और अंततः प्राणी-स्वास्थ्य पर होता है। कारखानों व बिजलीघरों की चिमनियों से निकलने वाली कार्बनडाइऑक्साइड, सल्फरडाइऑक्साइड आदि धुएं श्वसन तंत्र में पहुंच कर खराश तो उत्पन्न करते ही हैं, फेफड़ों के उत्तकों को भी नष्ट करते हैं। एक अध्ययन के अनुसार केवल मुंबई महानगर के उद्योग प्रतिदिन एक हजार प्रदूषणकारी पदार्थ वातावरण में उगलते हैं। इनमें कार्बनमोनोऑक्साइड, सल्फरडाइऑक्साइड और नाइट्रोजन के ऑक्साइड तथा अमोनिया के अंश काफी मात्रा में होते हैं।

वन : अंधाधुंध कटाई

हम बराबर देख रहे हैं कि वनों की कटाई अंधाधुंध होती है। इससे प्रकृति का असंतुलन बढ़ता जा रहा है। कहीं अतिवृष्टि हो रही है, तो कहीं अनावृष्टि। वनों की सघनता में कमी के कारण देश की उपजाऊ मिट्टी नदियों के साथ बह कर समुद्र में चली जाती है और उसका असर कृषि उपज पर पड़ता है।

आणविक विकिरणों को सोखने का उपाय भी वनस्पति के ही पास है। जंगलों के कटने से देश को भयंकर समस्याओं से गुजरना पड़ रहा है। पेड़-पौधे जन-जीवन के लिए अनेक दृष्टियों से वरदान हैं। इसलिए उनके विनाश का अर्थ मनुष्य का ही विनाश है। किसान जंगल साफ करता है और खेत जोतता है, उसका यह कार्य खाद्यान्नों की पूर्ति की दृष्टि से तो उत्तम है, परंतु कुछ भी सोचे-समझे बिना, मात्र सुविधा-भोग के लिए जो विनाश होता है, वह प्राकृतिक विपदा को आमंत्रण देने जैसा है। इससे ऐसी व्यवस्था समाप्त हो जाती है जो एक बहुत लंबे समय में भौतिक पर्यावरण और अंतःनिर्भरता से निर्मित हुई है।

मनुष्य ने अपने हाथों से अपने विनाश का मैदान तैयार किया है—यह कहा जा सकता है। उसने प्रकृति के साथ छेड़छाड़ करके अपना ही नहीं, संपूर्ण जीव-जगत के विनाश का पथ निर्मित कर डाला है। घने-बड़े वनों को काट कर भारी कल-कारखाने लगाने के प्रयासों अथवा समय की बचत के नाम पर तेज रफ्तार वाले वाहनों के निर्माण से जहां क्षमताएं बढ़ी हैं, वहीं इतना सब होने पर भी प्रदूषण की समस्या का समाधान खोजने का प्रयास नगण्य-सा हुआ है।

अणुव्रत : अंधकार में प्रकाश किरण

यह एक ऐसा प्रश्नचिह्न है, जिसे मिटाना आसान नहीं है, पर अणुव्रत एक ऐसा दीप है जो घने अंधकार में भी सबको सत्पथ की राह दिखा सकता है और इस ओर जन-जन को उन्मुख कर सकता है। अणुव्रत आंदोलन अनेक समस्याओं के समाधान के लिए पथ प्रदर्शन करता है। अणुव्रत संयम का मार्ग है। लालसाओं का सीमांकन पर्यावरण का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। उपभोग का संयम करने वाला ही पर्यावरण की समस्या को सुलझा सकता है। अखिल विश्व में उपभोक्ता अधिक हैं और पदार्थ सीमित हैं। पदार्थों की कमी के कारण ही प्रकृति का अतिमात्रा में दोहन होता है। प्रकृति के इस अत्यधिक दोहन से ही भूकंप, बाढ़ अथवा दूसरी समस्याएं उत्तरोत्तर बढ़ रही हैं। प्रकृति के विनाश का तात्पर्य है, मानव का विनाश। प्रकृति के असीमित दोहन से पदार्थ तो सिकुड़ते ही हैं, भावी पीढ़ी के लिए भी इससे भारी संकट पैदा होता है। अणुव्रत के छोटे-छोटे सूत्र संकट से बचने का सरल उपाय हैं।

समाधान : महावीर वाणी में

आधुनिक काल में आज जो विकास हुआ है, उसने

शेष पृष्ठ 57 पर

समझदार मैना और दुष्ट जमींदार पुत्र

❁ चित्रा मुद्गल ❁

भूखे-प्यासे गयादीन ने घोड़े को घास चरने के लिए छोड़ दिया और खुद पेड़ के तने से टिक कर आंखें मूंद लीं। परेशानी और थकावट के कारण उसे तुरंत नींद आ गई। इसी तरह पूरी रात बीत गई। सुबह अचानक किसी के पुकारने से जग गया। चौंक कर उसने आस-पास देखा, किंतु ऊंघते घोड़े के सिवा उसे अन्य कोई नजर न आया। तभी उसे दुबारा पुकार सुनाई दी। उसने गर्दन उठा कर ऊपर देखा तो उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। डाल पर वही पिंजरे वाली मैना बैठी हुई थी, जिसे उसने पैसों के लालच में जमींदार के पुत्रों को बेच दिया था।

सदलपुर गांव में गयादीन नामक एक युवक रहता था। वह बहुत गरीब था। प्रतिदिन वह लकड़ी की छोटी-छोटी वस्तुएं बनाता और उन्हें बाजार में ले जाकर बेच देता। छोटी-छोटी वस्तुओं से उसे लाभ नाम-मात्र का ही होता, मगर वह लाचार था। कुछ कर भी नहीं सकता था। लकड़ी खरीदने के लिए उसके पास पैसे नहीं थे। गांव के एक धनी बढ़ई के पास से वह लकड़ी के बेकार टुकड़े उठा लाता। उन्हीं को जोड़ कर कभी बच्चों की गाड़ी बना लेता, कभी उनके लिखने की पाटी, कभी कुछ खिलौने।

गयादीन के माता-पिता उसके बचपन में ही हैजे के शिकार हो चल बसे थे। उसकी बस एक विधवा बूढ़ी काकी थी, जिसने उसे मेहनत-मजदूरी करके पाला-पोसा था। एक दिन गयादीन अपनी बूढ़ी काकी से बोला—'काकी री, मैं परदेस जाना चाहता हूं।'

काकी उसकी बात सुन कर विस्मित हो बोली—'क्यों रे, परदेस क्यों जाना चाहता है?'

—'धन कमाने।'—गयादीन ने उत्तर दिया। काकी उसकी बात पर हंसती हुई बोली—'इसके लिए परदेस जाने की क्या जरूरत है—बेटा? गुजारे लायक तो तू यहां भी कमा लेता है।'

□ बालकथा □

गयादीन ने हताश होते हुए कहा—'छोटी-छोटी वस्तुएं बनाते हुए मन उकता गया है—काकी। अब मैं बड़ी चीजें बनाना चाहता हूं। अड़चन पैसों की है। परदेस से पैसा कमा कर लाऊंगा। तो बड़ी-बड़ी चीजें बना कर बाजार में बेच सकूंगा। उससे मुझे बहुत लाभ होगा।'

काकी उसकी बातें सुन कर सोच में पड़ गई। जानती तो थी कि गयादीन के हाथों में बड़ा हुनर है। उसे अगर थोड़ी-सी भी सुविधा मिले, तो वह गांव के सारे बढ़इयों को पीछे छोड़ सकता है। काकी का बुढ़ापा था। वह यह तो चाहती थी कि गयादीन खूब उन्नति करे, लेकिन यह नहीं चाहती थी कि गयादीन उसे छोड़ कर कमाने के लिए परदेस चला जाए।

रात-भर वह गयादीन की बात पर सोच-विचार करती रही। कौन-सा उपाय करे कि गयादीन परदेस जाने का इरादा छोड़ दे? किसी से जाकर पैसा मांगे तो कोई देगा ही क्यों? सभी लोग उसकी निर्धनता से परिचित हैं।

अचानक काकी को एक उपाय सूझा। सुबह होते ही वह गांव के मुखिया के पास पहुंची। उनसे विनती करती बोली—'मालिक! मुझे कुछ

पैसे की जरूरत है। गिरवी रखने को तो मेरे पास गहना-गुरिया है नहीं। बस एक टूटा-फूटा घर है। उसे ही आप गिरवी रख लो।'

गांव के मुखिया ने पूछा—'क्या भतीजे का ब्याह करने जा रही हो?'—काकी झिझकते हुए बोली—'गयादीन कुछ काम शुरू करना चाहता है मालिक।'

मुखिया भले आदमी थे। कहने लगे—'घर गिरवी मत रखो। पैसे मैं दे रहा हूं। गयादीन काम जमा ले तो लौटा देना। बस, गयादीन को इतना समझा देना कि कभी हमें किसी चीज की मरम्मत करवाने की जरूरत पड़ी तो आकर कर दिया करेगा।'—यह कह कर मुखिया ने काकी से पूछा कि कितने रुपयों में गयादीन का काम चल जाएगा? काकी के बताते ही उन्होंने फौरन तिजोरी से पैसे लाकर उसे थमा दिए।

पैसे पाकर गयादीन का मन उत्साह से भर उठा। वह मंडी से अच्छी लकड़ी खरीद कर लाया। फिर पूरी तन्मयता से रथ बनाने में जुट गया। कुछ ही दिनों में एक बहुत ही सुंदर रथ बन कर तैयार हो गया। गांव का जो भी व्यक्ति रथ को देखता, गयादीन की प्रतिभा और मेहनत की प्रशंसा करता न अघाता।

अब समस्या आई रथ को शहर की हाट तक ले जाने की। सहसा गयादीन को अपने एक सईस मित्र की याद हो आई। वह मित्र के पास गया। उससे अपनी परेशानी कह सुनाई। मित्र ने तुरंत उसे एक बढ़िया घोड़ा दे दिया। घोड़ा रथ में जोत, गयादीन अचलगंज की हाट की ओर चल पड़ा। रास्ते में गयादीन की भेंट एक तोता-मैना के व्यापारी से हुई। उसने गयादीन के रथ की खूब प्रशंसा की। फिर बोला—'रास्ता लंबा है। मुझसे तोता या मैना खरीद लो। ये तुम्हें खूब मीठी-मीठी बातें सुनाएंगे।' गयादीन को व्यापारी का सुझाव ठीक लगा। उसने सोचा, क्यों न वह एक मैना खरीद ले। मैना मीठी-मीठी बातें करती रहेगी तो यात्रा आसानी से कट जाएगी। उसने मैना की कीमत पूछी। व्यापारी ने कहा—'एक अशर्फी।' गयादीन ने फौरन व्यापारी को पैसे निकाल कर दे दिए और मैना का पिंजरा अपने रथ में टांग लिया।

चलते-चलते अचानक उसकी भेंट अचलगंज के जमींदार के पुत्रों से हुई। इतना सुंदर रथ देख उनके मन में खोट पैदा हो गई। उन्होंने गयादीन से पूछा—'रथ पर मैना कितने की····?' गयादीन ने विचार किया, यात्रा अब खत्म ही हो रही है। वह मैना को हाट में टांगे-टांगे कहां घूमेगा। फिर ये जमींदार के पुत्र हैं, इन्हें मैना पसंद आई है। ये लोग तो मैना का मुंह-मांगा दाम दे सकते हैं। उसने उत्तर दिया—'चार अशर्फियों की।' जमींदार के पुत्रों ने तुरंत चार अशर्फियां दे दीं और मैना समेत रथ लेकर चलते बने।

दुखी गयादीन उनके पीछे-पीछे भागा। उनसे प्रार्थना करने लगा कि वे उसका रथ तो वापस कर दें। उसने केवल मैना के पिंजरे के दाम बताए थे। रथ समेत नहीं। मगर, धूर्त जमींदार पुत्रों ने उसकी एक न सुनी। उलटा धमका कर भगा दिया और बोले कि—'वह चुपचाप उनका पीछा छोड़ दे। नहीं तो वे उसे कोई आरोप लगा कर कोतवाली में बंद करवा देंगे।'

निराश गयादीन एक पेड़ के नीचे बैठ कर रोने लगा। दुख से कातर वह सोच रहा था कि अब वह किस मुंह से गांव लौटे? काकी ने कर्ज लेकर उसके लिए धन जुटाया था। वह आस लगाए बैठी होगी कि रथ बेच कर वह खूब धन कमाएगा और लाकर उसकी खाली हथेली पर रख देगा। उसे क्या पता कि वह अपनी ही मूर्खता के कारण कपटी जमींदार-पुत्रों के चंगुल में फंस गया।

भूखे-प्यासे गयादीन ने घोड़े को घास चरने के लिए छोड़ दिया और खुद पेड़ के तने से टिक कर आंखें मूंद लीं। परेशानी और थकावट के कारण उसे तुरंत नींद आ गई। इसी तरह पूरी रात बीत गई। सुबह अचानक किसी के पुकारने से जग गया। चौंक कर उसने आस-पास देखा, किंतु ऊंघते घोड़े के सिवा उसे अन्य कोई नजर न आया। तभी उसे दुबारा पुकार सुनाई दी। उसने गर्दन उठा कर ऊपर देखा तो उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। डाल पर वही पिंजरे वाली मैना बैठी हुई थी, जिसे उसने पैसों के लालच में जमींदार के पुत्रों को बेच दिया था।

गयादीन ने पूछा—'मैना! तुम्हें तो जमींदार पुत्र ले गए थे। तुम यहां कैसे आ गई?' मैना बोली—'रथ ठगने की खुशी में उन धूर्तों ने रात में खूब मद्यपान किया

और मेरे पिंजरे को हिलाने-डुलाने लगे। हिलने-डुलने से पिंजरे का दरवाजा खुल गया। मौका पाते ही मैं फुर्र हो गई और तुम्हें ढूंढ़ती हुई इधर आ पहुंची।'

मैना से मिल कर गयादीन अपने को लज्जित अनुभव करने लगा। मैना उसके मन का भाव ताड़ गई। बोली—'गयादीन, मैं तुमसे रुष्ट नहीं हूं। उलटा मैं तुम्हारी सेवा से बहुत प्रसन्न हूं। कोई अपने पालतू पशु-पक्षियों का इतना खयाल नहीं रखता, जितना तुमने थोड़े से समय में रखा। मैं तुम्हारी मदद के लिए तुम्हारे पास आई हूं। मैं जैसा कहती हूं, वैसा ही करो। उन धूर्तों से तुम्हारा रथ तुम्हें वापस मिल जाएगा।' मैना की बात सुन गयादीन ने उसे अविश्वास से देखा—'क्या सचमुच मेरा रथ मुझे वापस मिल सकता है?'

—'क्यों नहीं'—मैना ने उसे आश्वस्त किया और कहने लगी—'तुम अपना घोड़ा लेकर जमींदार-पुत्रों के घर जाओ। उनसे कहो, मेरा रथ तो तुमने ले ही लिया है। अब यह घोड़ा भी तुम्हीं खरीद लो। मैं इसे अपने पास रख कर क्या करूंगा। वे घोड़े का मूल्य पूछेंगे। तुम कहना कि बदले में वे तुम्हें सेर भर सत्तू दे दें। लेकिन, तुम एक शर्त साथ जोड़ देना। सत्तू तुम तभी लोगे, जब उनकी एकमात्र बहन तुम्हें अपने हाथों सत्तू देने आए। उनकी बहन जैसे ही सत्तू देने के लिए हाथ बढ़ाए तुम तत्काल, उसका हाथ पकड़ कर चल देना।'

गयादीन मैना की बात सुन झिझकते हुए बोला—'यह तो पाप है।' मैना बोली—'पाप कैसा! यह काम बुरी दृष्टि से तो करोगे नहीं। इन धूर्तों को सबक भर सिखाना है, ताकि भविष्य में वे सीधे-सरल आदमियों को ठगना छोड़ दें।'—गयादीन सारी बात समझ गया।

जमींदार-पुत्रों के पास पहुंच कर उसने मैना के कहे अनुसार ही किया। जैसे ही उनकी बहन सत्तू देने आगे बढ़ी गयादीन उसका हाथ पकड़ कर चलता बना।

गयादीन के इस आचरण पर जमींदार-पुत्रों के चेहरे पर हवाइयां उड़ने लगीं। वे चिल्ला कर बोले—'यह क्या?' गयादीन ने ढिठाई से हंसते हुए कहा—'कुछ नहीं। सेर भर सत्तू लिए जा रहा हूं'।

इस पर आस-पास के लोग इकट्ठे हो गए। वे गयादीन को समझाने लगे। लेकिन, उसने किसी की न सुनी। बस इसी जिद्द पर अड़ा रहा कि फैसला राजा के पास चल कर होगा। राजा के पास पहुंच कर गयादीन ने उन्हें सारी घटना कह सुनाई। राजा ने जमींदार पुत्रों से पूछा—'क्या कह कर तुमने सौदा किया था?'

जमींदार पुत्रों ने उत्तर दिया—'हमने रथ और मैना दोनों की कीमत बढई से पूछी थी। इसने बताया था चार अशर्फियां, जो हमने तुरंत दे दीं। फिर इसने घोड़ा बेचने की आड़ में हमारी बहन पर बुरी नजर डाली।'

उनकी बातों पर विश्वास करके राजा बढ़ई को दंडित करने ही जा रहा था कि तभी अचानक एक आवाज आई—'राजा तू अपनी प्रजा का पिता है। सोच-समझ कर न्याय कर।' आवाज सुन सभी चौंक पड़े। उन्होंने देखा एक खंभे पर बैठी मैना राजा से यह कह रही थी।

जमींदार-पुत्रों ने मैना को देखा, तो वे उसे तलवार लेकर मारने दौड़े। मैना झट से उड़ कर राजा के सिंहासन पर बैठ गई। वे सब खिसियाए से खड़े रह गए।

राजा भांप गया वास्तव में मामला गंभीर है। उसने मैना से पूछा—'तुम कौन हो?' मैना ने उत्तर दिया—'हे राजन! मैं वही मैना हूं जिसके बहाने इन दुष्ट जमींदार-पुत्रों ने सरल हृदय बढई को ठगा।'

राजा मैना की बात सुन कर उलझन में पड़ गया। वह मैना से बोला—'सचाई क्या है?'

मैना ने उत्साहित होकर कहा—'राजन! बढ़ई का अद्वितीय रथ देख इन जमींदार पुत्रों की नीयत बिगड़ गई। ये बढ़ई से बोले—'रथ पर मैना कितने की?' बढ़ई ने उत्तर दिया। —'चार अशर्फियों की।' बस ये कपटी पिंजरे समेत रथ लेकर चंपत हो गए।' यह कह कर मैना ने राजा से यह भी बता दिया कि उसी ने बढ़ई को यह उपाय बताया कि किस प्रकार वह जमींदार-पुत्रों को रास्ते पर ला सकता है।

चतुर मैना की बातें सुन राजा मैना पर मुग्ध हो उठा। उसने जमींदार-पुत्रों को आज्ञा दी कि वे तुरंत बढ़ई का रथ लौटा दें।

फिर चतुर मैना और रथ राजा ने बढ़ई से खरीद लिया। बदले में बढ़ई को खूब धान्य देकर उसे कई गांवों का तालुकेदार बना दिया। साथ ही जमींदार-पुत्रों की सहमति से उनकी बहन से उसका ब्याह भी कर दिया।

बढ़ई की खुशी का ठिकाना न रहा। ❖

स्वस्थ समाज की आधारभूमि : इच्छा का अल्पीकरण; कामना का संयम पृष्ठ 37 का शेष

'समाज की प्राणशक्ति संयम है। इस प्राणशक्ति को प्रतिष्ठित कैसे करें? एक उपाय है—शिक्षा। शिक्षा के द्वारा विद्यार्थी के मस्तिष्क में प्रारंभ से ही अहिंसा की चेतना जागृत की जाए। काम-संयम की यह चेतना अहिंसा की चेतना है। जितना काम का असंयम, उतनी हिंसा। जितना काम का असंयम, उतना आर्थिक अपराध। जड़ की बात है—काम संयम या अहिंसा की चेतना को जागृत करें और उसका सशक्त माध्यम है—शिक्षा। प्रारंभ से ही विद्यार्थी के मस्तिष्क में यह धारणा बिठाएं कि जो इच्छा पैदा होती है—उसे भोगो मत, उसकी काट-छांट करना सीखो। अनेक व्यक्ति अपनी कोठियों में हरी दूब लगाते हैं। दूब बढ़ती है तो उसकी कांट-छांट करते हैं, जिससे वह बराबर मुलायम गद्दे जैसी बिछ जाए और सुंदर लगे। यह आश्चर्य का विषय है कि हम बाहर के सौंदर्य की ओर बहुत ध्यान देते हैं, किंतु अंतःसौंदर्य की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। जो भी इच्छा पैदा होती है, उसे भोग लेते हैं, उसकी काट-छांट करना नहीं जानते। जो इच्छा पैदा हो, उस पर तीन कोणों से विचार करें— ● क्या इसे पूरा करना अनिवार्य है? ● क्या इसे पूरा करना आवश्यक है? ● क्या यह मात्र लालसा है?'

'पहली भूमिका है—अनिवार्यता की; दूसरी भूमिका है—आवश्यकता की और तीसरी भूमिका है—संयम की। प्रत्येक इच्छा का इन तीनों भूमिकाओं के संदर्भ में विश्लेषण करें।'[8] यह विश्लेषण कामना के संयम और इच्छा के अल्पीकरण का संकल्प जागृत करा सकता है। कामना के संयम और इच्छा के अल्पीकरण का संकल्प ही स्वस्थ व्यक्ति और स्वस्थ समाज की आधारभूमि है।' ❖

संदर्भ

1. घट-घट दीप जले, पृ. 23-24/ **2.** धर्म मुझे क्या देगा, पृ. 144-145/ **3.** नया मानव : नया विश्व, पृ. 197/ **4.** घट-घट दीप जले, पृ. 26-27/ **5.** विचार को बदलना सीखें, पृ. 145/ **6.** विज्ञान अध्यात्म की ओर, पृ. 71-80/ **7.** आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के एक अप्रकाशित आलेख का अंश/ **8.** नया मानव : नया विश्व, पृ. 198-202 ❖❖

लालसाओं का सीमांकन करें : पर्यावरण संरक्षण के लिए पृष्ठ 53 का शेष

पर्यावरण को नुकसान पहुंचाया है तथा पारिस्थितिकी तंत्र को असंतुलित किया है। आधुनिक समाज ने प्राकृतिक शक्तियों को प्रौद्योगिकी द्वारा नियंत्रित करने की असफल कोशिश की है। जबकि यह आवश्यक है कि मनुष्य और प्रकृति के बीच संतुलन हो। अत्यधिक आधुनिकता ने हमारी सीमा को लांघ दिया है। मनुष्य ने जब भी सीमा का अतिक्रमण किया है, उसे उसका भारी नुकसान उठाना पड़ा है। प्रकृति का अत्यधिक दुरुपयोग मनुष्य ही नहीं, प्राणी जगत को भी लील रहा है। हजारों वर्ष की अर्जित संपदा क्षणभर में विनाश के गर्त में ढकेल दी जा सकती है और पुनः उसकी क्षतिपूर्ति अत्यंत दुरूह कार्य है। महावीर वाणी में इन समस्याओं का समाधान उपलब्ध है।

जं हंतव्वं ति मण्णसि; सव्वे पाणा ण हन्तव्वा

जो आत्मवत होता है, वह सब प्राणियों के साथ एक-समान बर्ताव करता है, सबके साथ मित्रता का व्यवहार करता है। वह पर्यावरण के प्रति भी जागरूक रहता है। संयम के प्रति जागरूकता ही मानव को नया बोध-पाठ दे सकती है। यह बोधपाठ है—अनावश्यक भूमि का खनन न करना ● अत्यधिक वनों की कटाई न करना। ● अत्यधिक जल का दुरुपयोग न करना।

इन सूत्रों से ही पर्यावरण सुरक्षित रह सकता है। पर्यावरण की सुरक्षा सदा ही संयम पर आधारित रही है। पर्यावरण की व्यवस्था संयम के अभाव में किसी भी क्षण लड़खड़ा सकती है। अतः **'संयम ही जीवन है'**—इस घोष को चरितार्थ करना आवश्यक है।

❖

जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा

3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001

दूरभाष : 22357956, 22343598 फैक्स : 033 22343666

उपासक प्रशिक्षण शिविर

(20 जुलाई, 2011 से 30 जुलाई, 2011 तक)

जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा द्वारा इस वर्ष उपासक प्रशिक्षण शिविर दिनांक 20 जुलाई से 30 जुलाई, 2011 तक केलवा में पूज्य प्रवर के पावन सान्निध्य में आयोजित किया जा रहा है। दिनांक 20 जुलाई, 2011 को नए शिविरार्थियों के लिए प्रवेश परीक्षा ली जाएगी। परीक्षा उत्तीर्ण करने पर ही शिविर में प्रवेश दिया जा सकेगा। प्रवेश परीक्षा का पाठ्यक्रम इस प्रकार है—

- (1) अर्हत् वंदना (2) परमेष्ठी वंदना (3) पंचपद वंदना (4) पच्चीस बोल (5) प्रतिक्रमण कंठस्थ (इनका कंठस्थ होना), परीक्षा के पश्चात् ही शिविर में प्रवेश दिया जाएगा। अतः स्थानीय स्तर पर इनकी तैयारी अपेक्षित है।
- चयनित गीतों का लयाभ्यास—

1. प्रयाण गीत—'प्रभो तुम्हारे.....। 2. श्रद्धा विनय समेत....। 3. अणुव्रत गीत—नैतिकता की...।
4. प्रेक्षाध्यान गीत—आत्म साक्षात्कार। 5. तेरापंथ गीत—प्रभो! यह तेरापंथ महान....।

शिविर प्रवेश की अन्य अर्हताएं—

• आयु सीमा 25 वर्ष से ऊपर व 60 वर्ष तक। • जैन धर्म एवं तेरापंथ धर्मसंघ के प्रति आस्थावान। • परिषद में बोलने एवं गाने की क्षमता अथवा उसके विकास की संभावना। • स्वस्थ एवं श्रमशील, संयम एवं सादगी प्रधान जीवनशैली का अभ्यासी। • प्रतिवर्ष संघ सेवा के लिए दो-तीन सप्ताह का समय देने की स्थिति। • पुरुष एवं महिलाएं, दोनों इस श्रेणी में सम्मिलित हो सकते हैं। इस शिविर में नए शिविरार्थी व पिछले वर्ष 'सहयोगी उपासक वर्ग' में चयनित न हो सकने वाले भाई-बहिन ही भाग ले सकेंगे। साथ-साथ वो 'सहयोगी उपासक' जो दो बार या इससे अधिक पर्युषण यात्रा कर चुके हैं एवं 'प्रवक्ता उपासक' की अर्हता प्राप्त करना चाहते हैं, उनको ही इस शिविर में प्रवेश दिया जा सकेगा। इस शिविर की अवधि 20 जुलाई से 28 जुलाई तक है। शिविर में आवास व भोजन व्यवस्था निःशुल्क रहेगी।

प्रशिक्षण के पश्चात् परीक्षा का आयोजन 28 जुलाई को है।

प्रवक्ता उपासकों के लिए त्रिदिवसीय कार्यशाला—

पूज्य प्रवर के सान्निध्य में दिनांक 28-29 व 30 जुलाई को त्रिदिवसीय विशेष कार्यशाला का आयोजन किया गया है। मुख्य विषय है—**'तेरापंथ दर्शन'**। इस कार्यशाला में सभी प्रवक्ता, उपासक आमंत्रित हैं।

इस संबंध में अधिक जानकारी के लिए संपर्क सूत्र—

- श्री डालिमचंद नौलखा (उपासक श्रेणी के राष्ट्रीय संयोजक) 09327071376
- श्री महावीर प्रताप दुगड़ (सहप्रभारी) 09331019455

चैनरूप चिंडालिया
अध्यक्ष
जैन श्वे. ते. महासभा, कोलकाता

विनोद बांठिया
शिविर व्यवस्था प्रभारी

भंवरलाल सिंघी
महामंत्री
जैन श्वे. ते. महासभा, कोलकाता

भंवरलाल सिंघी, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

With best compliments from :

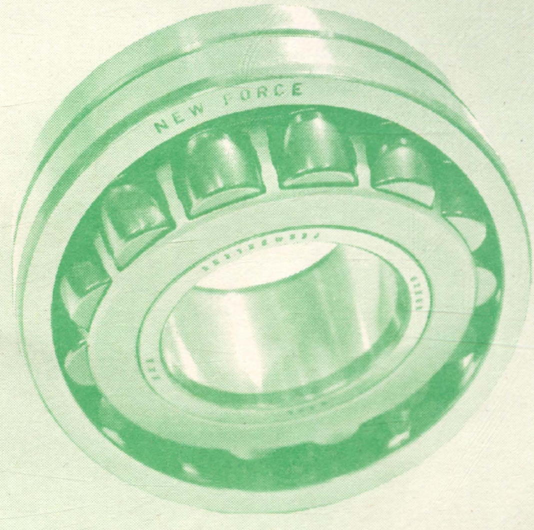

ZKL's New Force bearings has just got gold.

But the real winner is you!

Winner of the Gold medal at the best exhibits contest at the 50th International Engineering Fair, Brno, ZKL's New Force bearings are designed for the most demanding mountings-gearboxes, railway vehicles, presses, rolling mills, paper machines, pumps, machine tools, power equipments, printing machinery etc. Higher dynamic load rating gives bearings a longer life and permits laying of structures of lesser dimensions by accommodating the same load, thus reducing the total cost of the installation as well as achieving energy savings in operation. So be a frontrunner in your industry with the New Force technology, only from ZKL.

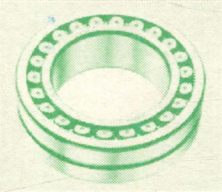

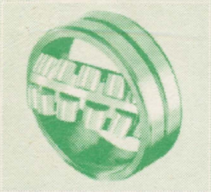

ZKL Bearings (India) Pvt. Ltd.

ZKL Bearings (India) Pvt. Ltd.

B-3/1A Gillander House, 8 Netaji Subhash Road, Kolkata-700001 Tel: +91-33-22138591-95, 22428441

Fax: +91-33-22428440 Email: kolkata@zklindia.com Website: www.zklindia.com

जैन भारती, जून, 2011 ■ प्रेषण दिनांक 28 मई, 2011
भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/2009-2011

With Best Compliments From

B. C. Jain [Bhalawat]
FCA, ACS, ICWA
Director

SUNRISE
HOUSING CONSTRUCTIONS LTD.

Sunbeam Chambers, Ground Floor
New Marine Lines, Opp. Liberty Cinema, MUMBAI 400020 India
Tel. No.: 022-22096000/ 1/ 4 • Fax: 022-22095000
Mobile: 09821117813 • Email: cabcjain@gmail.com

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779

नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।